इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम एच डी-21
मीरा का विशेष अध्ययन

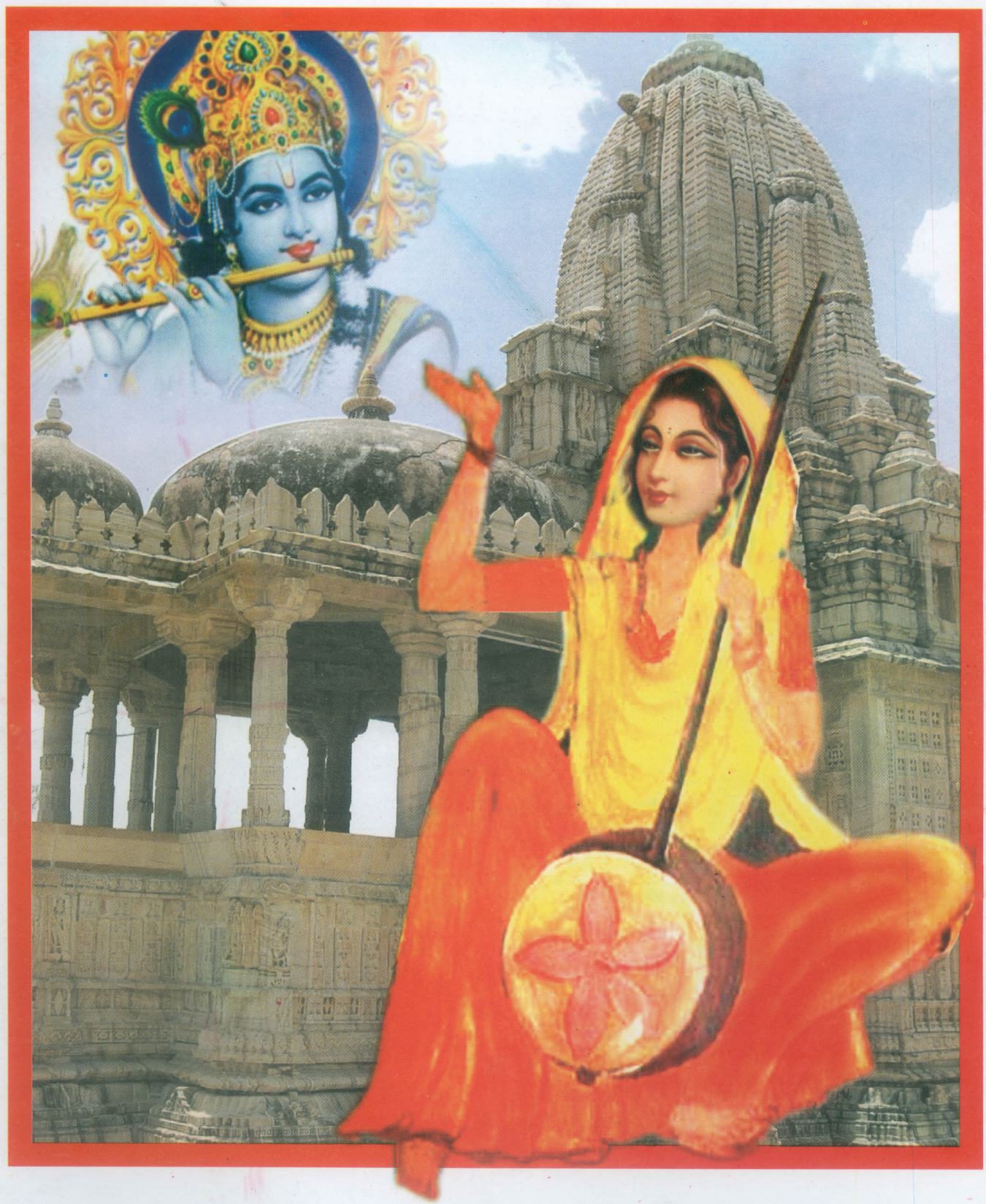

मीरा की काव्यकला

3

" शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

- इन्दिरा गांधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also & democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances"

- Indira Gandhi

इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम एच डी-21
मीरा का विशेष अध्ययन

खंड

3

मीरा की काव्यकला

इकाई 11

मीरा की काव्यकला 5

इकाई 12

मीरा की वेदना और विद्रोह 17

इकाई 13

मीरा और लोकमानस 33

इकाई 14

मीरा की काव्यभाषा 47

इकाई 15

मीरा की प्रमुख कविताओं का विश्लेषण 61

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें 75

विशषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

(स्वर्गीय) प्रो. कमला प्रसाद

प्रो. चन्द्रकला पांडेय
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन
कोचीन विज्ञान एवं तकनीकी
विश्वविद्यालय, कोचीन

प्रो. नूरजहाँ बेगम
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद

संकाय सदस्य
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीतारानी पालीवाल (सेवानिवृत्त)
प्रो. सत्यकाम
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. विमल थोरात (सेवानिवृत्त)
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. जितेन्द्र श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संकल्पना
प्रो. रामबक्ष
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ. जीवन सिंह 1/14 अरावली विहार, अलवर (राजस्थान)	11,12,14
डॉ. मोहनदास चारण जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर	13
डॉ. मुहम्मद नसीम केन्द्रीय हिंदी निदेशालय नई दिल्ली	14
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	15 (संशोधन एवं परिवर्द्धन)

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

खंड संपादक
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी

सहयोग
सुश्री रेखा कुर्रे, आर.टी.ए.
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग
सुश्री हेमलता देवी
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

आवरण
अरविन्दर चावला

मुद्रण निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

नवम्बर, 2014

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2014

ISBN-978-81-266-6820-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित : आकाशदीप प्रिंटर्स, 20–अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली–110002

खण्ड 3 का परिचय

यह खण्ड इस पाठ्यक्रम का तृतीय खण्ड है। इस खण्ड में 'मीरा की भक्ति भावना' की विशद् चर्चा की गई है। इस खण्ड में कुल पाँच इकाइयाँ है। खण्ड की पहली इकाई (इकाई-11) में **'मीरा की काव्यकला'** पर विचार किया गया है। मीरा की काव्यकला को समझने के लिए सर्वप्रथम काव्यकला का एक सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात मीरा की काव्यकला की आधारभूमि, मीरा की काव्यकला के अंतर्गत शब्द-विन्यास एवं उक्ति-सौन्दर्य, पद-रचना-शैली, अप्रस्तुत योजना, काव्यबिम्ब, प्रतीकात्मकता, और गीतिपरकता आदि की चर्चा की गई है।

इस खण्ड की दूसरी इकाई (इकाई-12) **'मीरा की वेदना और विद्रोह'** है। इस इकाई में मीरा की वेदना और विद्रोह की भौतिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत 'मीरा का बाल्यकाल : मीरा का विवाह और मेवाड़, मीरा का वैधव्य और मीरा द्वारा अपनी भक्ति के स्वच्छंद पथ के वरण के विकल्प पर विचार किया गया है। मीरा की उदात्तता व आदर्श को सामान्य जन के लक्ष्य से भिन्न और समता स्वाधीनता के विविध पहलुओं के आधार पर समझाया गया है। मीरा के विद्रोह और वेदना की विद्रोह का निजी स्तर तथा विद्रोह के सामाजिक प्रभावों के सैद्धान्तिक आधार पर चर्चा की गई है। अंत में मीरा की विरह-वेदना को मीरा के काव्य के माध्यम से समझाया गया है।

इस खण्ड की तीसरी इकाई (इकाई-13) में **'मीरा और लोकमानस'** है। मीरा की कविता को समग्र रूप से जानने और समझने के लिए राजस्थानी लोकमानस को भली-भाँति समझना आवश्यक है क्योंकि मीरा कृष्णमयी होने के साथ-साथ लोकमयी भी हैं। वे लोकमानस की मान्यताओं, धारणाओं से परिचित थी। लोक संस्कृति के उन्नायक तत्वों के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी। इस इकाई में 'लोक-संस्कृति की मूलभूत अवधारणाओं का परिचय तो दिया ही गया है साथ ही, मीरा पदों में लोक परम्परा और रीति-रिवाज का निरूपण किस तरह हुआ है। इसकी भी जानकारी सम्यक् रूप में दी गई है।

इस खण्ड की चौथी इकाई (इकाई-14) में **'मीरा की काव्यभाषा'** पर विचार किया गया है। इस इकाई में मीरा का समय और काव्यभाषा, मीरा की काव्यभाषा का आधार एवं स्रोत के अंतर्गत जीवनानुभव एवं संत्संग, सत्संग की जातीय परम्परा, जातीय परम्परा में नाथ साहित्य, लोक जीवन, साहित्य एवं लोकसंस्कृति और मरुभूमि की प्रकृति को प्रतिरोध की काव्यभाषा, तथा मीरा की विविध रूपा काव्यभाषा की चर्चा की गई है।

इस खण्ड की पाँचवीं इकाई (इकाई-15) में **मीरा की प्रमुख कविताओं का विश्लेषण** किया गया है। मीरा की प्रमुख कविताओं के विश्लेषण से आप कविताओं को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे। कविताओं के संदर्भ, परिवेश और इसमें निहित भाव को जान सकेंगे।

इस खण्ड के अंत में कुछ आवश्यक संदर्भ ग्रंथों की सूची भी दी गई है। ये ग्रंथ पुस्तकालयों में सहजता से उपलब्ध हैं। हम आपसे अपेक्षा करते हैं कि आप अपनी सुविधा के अनुसार अन्य ग्रंथों का भी अध्ययन करें।

शुभकामनाओं के साथ!

इकाई 11 मीरा की काव्यकला

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 काव्यकला : सामान्य परिचय

11.3 मीरा की काव्यकला : आधारभूमि

11.4 मीरा की काव्यकला

- 11.4.1 शब्द-विन्यास एवं उक्ति-सौन्दर्य
- 11.4.2 पद-रचना-शैली
- 11.4.3 अप्रस्तुत योजना
- 11.4.4 काव्यबिम्ब
- 11.4.5 गीतिपरकता
- 11.4.6 प्रतीक-विधान

11.5 सारांश

11.6 अभ्यास प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप मीरा की काव्यकला के सभी रूपों को जान सकेंगे। मीरा की काव्यभाषा के अन्तर्गत आप मीरा के शब्दों की प्रकृति विन्यास और उनकी सृजनात्मकता को जान सकेंगे। मीरा की पद-रचना की अपनी शैली है, उसके वैशिष्ट्य को जानकर आप मीरा की काव्यकला के एक महत्वपूर्ण पहलू को समझ सकेंगे। कोई कवि अपनी कला को अनेक तरह से प्रभावी बनाता है और सँवारता है। कहीं वह अपनी बात अलंकृत करके कहता है तो कहीं प्रतीकों में और कहीं वह शब्द-चित्रों में अपनी बात करता है। इन बातों से उसकी काव्यकला का पता चलता है। अतः इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- काव्य कला के सामान्य स्वरूप को जान सकेंगे;
- मीरा की काव्यकला में शब्दयोजना, उक्ति-सौन्दर्य, पद-रचना की शैली, अलंकार योजना, प्रतीकात्मकता एवं काव्यबिम्ब की पद्धति को समझ सकेंगे; और
- मीरा की काव्यकला में लोकबद्धता की भूमिका को बतला सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

मीरा-काव्य के विशेष अध्ययन के अन्तर्गत अभी तक आप मीरा और उनके युग के साथ मीरा काव्य की रचना भूमि तथा उनकी अन्तर्वस्तु का अध्ययन कर चुके हैं। इसी से संबंध है उनकी काव्य कला का। चूँकि कविता, शब्द की कला है और हर रचनाकार

का शब्द-प्रयोग एवं शब्द-कौशल, शिल्प का अपना तरीका, अपना ढंग और अपनी शैली होती है, इसलिए हर रचनाकार की कला में भिन्नता एवं विशिष्टता पाई जाती है। जिस तरह एक चित्रकार रंग और रेखाओं के प्रयोग अपने-अपने ढंग से करता है, संगीतकार सुरों का, मूर्तिकार और वास्तुकार अपने शिल्पों का, उसी तरह एक रचनाकार भी अपने शब्द का प्रयोग अपने ढंग से करता है।

यह तो हम जान ही चुके हैं कि मीरा भक्ति-युग की एक महत्वपूर्ण कवयित्री हैं। उनका योगदान केवल साहित्य तक सीमित नहीं है। वे इससे भी आगे बढ़कर अपने समय के सामाजिक रिश्तों एवं संस्कृति-विधान में गंभीर हस्तक्षेप करती हैं। उनकी कविता में भक्ति का गहरा विधान है किन्तु उस भक्ति-भाव का उतना ही बड़ा रिश्ता उस समय की सामाजिकता तथा स्त्री-पुरुष के रिश्तों को नया रूप देने से है। इस रूप में वह अपने समय के समाज से लगाकर आज तक उस लोक को जाग्रत करने का काम करती है, जो स्त्री-पुरुष के रिश्तों में विषमता व ऊँच-नीच की भावना को विशेष प्रश्रय देता रहा है। इस वजह से मीरा की काव्यकला में कुछ ऐसी विशेषताएँ तथा अनूठापन आ गया है, जो मीरा को इस युग की ही नहीं वरन् आज की भी उनकी कविता को प्रासंगिक बना देता है।

11.2 काव्यकला : सामान्य परिचय

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि काव्य शब्द की कला है। दूसरे शब्दों में शब्द का कलात्मक प्रयोग ही काव्यकला है। एक रचनाकार शब्द-निर्माता से ज्यादा शब्द-प्रयोक्ता होता है। शब्द उस समाज की सम्पत्ति है, जिसमें हम रहते हैं। इस समाज की क्रियाशीलता और भिन्न-भिन्न तरह के रिश्तों की क्रियान्विति से हमारे मन में जिन भावों व विचारों का सृजन होता है, उन्हीं की अभिव्यक्ति करने के लिए शब्द और भाषा का आविष्कार, समाज के विभिन्न स्तरों पर तरह-तरह के भावों से होता रहा है। इसी प्रक्रिया में लोकोक्तियाँ और मुहावरे बने हैं। समाज के भीतर लोगों में तरह-तरह के भावों-विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है। आदान -प्रदान की इस प्रक्रिया में भाषा भी एक नदी की तरह निरन्तर गतिशील, परिवर्तनशील एवं परिवर्द्धित होती रहती है। जब कोई लेखक, साहित्यकार और रचनाकार अपने समय और समाज की इस प्रवहमान प्रक्रिया से स्वयं को सम्बद्ध करता है तो उसके मन में भावों विचारों की जो हलचल पैदा होती है, उसे व्यक्त करने के लिए वह अपनी सोच-समझ एवं दृष्टि के अनुसार अपने परिवेश से शब्दावली का चयन कर काव्यभाषा का निर्माण करता है। इसी प्रक्रिया में उसकी शब्द - प्रयोग करने की कला का एक तरीका, शैली, ढंग एवं शिल्प बनता चला जाता है। अपने पास संचित शब्द की सारी सम्पत्ति वह अपनी सक्रियता में समाज से अर्जित करता हुआ शब्द-प्रयोग के निजी कौशल का प्रदर्शन करता है, जिसे हम उस कवि या रचनाकार की कला कहते हैं। इसमें शब्द-प्रयोग, शब्द-शक्ति, बिम्ब-विधान, अलंकार एवं प्रतीक योजना, छंद-विधान आदि का कौशल, रचनाकार के व्यक्तित्व को कुछ भिन्न तौर पर प्रक्षेपित एवं स्थापित करता है, जिसे समग्रतः काव्य-कला कहा गया है। इस तरह एक रचनाकार की महानता उसकी अन्तर्वस्तु के वैभव एवं गहराई तथा कलात्मकता के द्वन्द्वात्मक रिश्ते से स्थापित होती है व पहचानी जाती है।

मीरा के बारे में आप पढ़ चुके हैं कि अन्तर्वस्तु के स्तर पर उनके यहाँ भक्ति का एक सामान्य युगीन रूप होते हुए भी वह चेतना एवं विवेक की दृष्टि से भिन्न एवं विशिष्ट

है। यह सही है कि उन्होंने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उसी भक्ति-मार्ग को चुना, जिसके ऊपर उनसे पूर्व के एवं उनके समकालीन कवि चल रहे थे, लेकिन उन्होंने लगातार जीवन की उस बड़ी एवं बुनियादी सच्चाई को जानने का प्रयास भी किया, जो व्यक्ति की स्वाधीनता एवं समानता जैसे आधुनिक मूल्यों से संबंधित है। सामान्य तौर पर उनको मध्यकालीन परिवेश में देखने व समझने का प्रयास किया जाता है किन्तु वे अपने समय से आगे चलने वाली रचनाकार थीं, भले ही उनका कोई सिद्धान्त-कथन उनके यहाँ विद्यमान न हो। हम जानते हैं कि एक पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का वास्तविक स्थान क्या है? वे समाज की इस चुनौती को स्वीकार कर साहसिकता, निडरता और स्वच्छन्द भावना तथा सादगीपूर्ण कौशल के साथ अपनी भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं। इसी से उनकी शब्द -कला को एक रूप मिलता है, जो मीरा को एक कलाकार मीरा बनाता है।

11.3 मीरा की काव्यकला : आधारभूमि

यह तो हम जानते ही हैं कि हर व्यक्ति अपने समय से प्रभावित रहता है। इसमें कुछ ही व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जो अपने समय को प्रभावित भी करते हैं। इस तरह के व्यक्तित्वों से ही समय और समाज का निर्माण होता है। मीरा का व्यक्तित्व इसका उदाहरण है, जो अपने समय से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी, उनसे स्वतंत्र रहकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकीं। वे समय की पराधीनता की बेड़ियों से स्वयं को मुक्त रख सकीं। उन्होंने दूसरों की समझ से नहीं बल्कि अपनी समझ एवं विवेक से अपने निर्णय लिए और उनके ऊपर वे मुक्तभाव से चलीं। ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि उनकी भक्तिभावना परिवेशबद्ध है। कहा भी जाता है कि भारतीय परम्परा से प्राप्त प्रेमाभक्ति का विस्तार उनकी कविता में हुआ है। उनकी प्रेमभक्ति के आराध्य गिरिधर गोपाल श्री कृष्ण हैं, जिनके सिर पर मोर-मुकुट है, वे ही उनके पति हैं – "मेरे तो गिरिधर गुपाल, दूसरो न कोई। जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।" यद्यपि उनका सीधा संबंध उनके समय में प्रचलित किसी वैष्णव सम्प्रदाय से नहीं रहा, जैसा कि सूर का वल्लभ सम्प्रदाय से था। वे हर मामले में स्वच्छन्द-भावना का उदारहण प्रस्तुत करती हैं। अनुभव से उनको लगता रहा होगा कि जिस समाज में वे रह रही हैं, उसमें स्त्री के लिए कदम-कदम पर क्रूर बंधन हैं। यह भक्ति का स्वाधीन मार्ग ही है, जिसके ऊपर कोई भी व्यक्ति अपनी स्वाधीनता को कायम रख सकता है। सम्प्रदाय का बंधन भी अन्ततः उसी पितृसत्तात्मकता का बंधन है, जिससे वे अपना संघर्ष चलाती हैं और एक विद्रोहिणी वीरांगना के रूप में सामने आती हैं। वे भक्ति-मार्ग की उन रूढ़ियों का खुला प्रतिरोध रचती हैं, जो व्यक्ति को कहीं नहीं पहुँचाती। कुछ लोग यहाँ तीर्थाटन करने को भक्ति मानते हैं, कोई व्रत रखने को और कुछ ज्ञानोपदेश श्रवण को। कुछ लोग ऐसे हैं, जो ईश्वर-प्राप्ति के लिए काशी-निवास और काशी -करवट की बात करते हैं। मीरा के लिए यह सब व्यर्थ है। मीरा को जरूर यह अनुभव हुआ होगा कि तीर्थ, व्रत, ज्ञानोपदेश, काशी-वास आदि बातें करने वाले लोग अपने व्यावहारिक जीवन में कितने ढोंगी व पाखण्डी दिखाई देते हैं। सच तो यह है कि इन बातों में भक्ति नहीं होती। उन्होंने लिखा-"तीरथ बरतां ग्यान कथंता, कहा लिया करवट कासी।" इसी तरह भगवा वस्त्र पहनकर संन्यासी होने से भी क्या लाभ? यदि योगी होकर भी मुक्ति की युक्ति को नहीं जाना तो सब कुछ व्यर्थ है। असल बात यह है कि व्यक्ति सबसे पहले सत्य को जाने। दूसरों की कही-सुनी बातों को बिना सोचे-समझे और अपने विवेक का प्रयोग किए बिना न माने। वे कहती हैं –

यो संसार चहर री बाजी, सांझ पड्यां उठा जासी।
कहा भया या भाव पहरयाँ, घर तज लयां सन्यासी।
जोगी होय जुगत ना जाणां, उलट जनम फिर फाँसी।।
अरज करां अबला कर जोरयां, स्याम तुम्हारी दासी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, कात्यां म्हारो गाँसी।।

मीरा अपने परिवेश से प्रभावित तो होती हैं किन्तु उससे बँधती नहीं। यह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी एवं विलक्षण खूबी है। पूरे भक्तिकाल में उनकी भक्तिभावना का स्वरूप अन्य कवियों से इस मामले में विशिष्ट है कि वे किसी एक रूढ़ सिद्धान्त, धारणा या विश्वास से नहीं बँधती। उनकी प्रतिबद्धता यदि कहीं है तो अपने आराध्य और उस भाव के प्रति, जो उनके जीवन के सबसे बड़े मूल्य- 'स्वाधीनता' -की रक्षा करता है। यही कारण है कि वे अपने समय में प्रचलित निर्गुण एवं सगुण दोनों तरह के विश्वासों से अपनी मनचाही वस्तु को ग्रहण कर लेती हैं। इसीलिए वे सगुण भावों में निर्गुण को मिला देने का कौशल दिखलाती हैं तथा निर्गुण में सगुण को। सूर को अविगत गति समझ में नहीं आती, इसलिए सगुण लीला पद गाते हैं। तुलसी यद्यपि 'सगुन-अगुन' में कोई भेद नहीं मानते, लेकिन बँधे हुए 'सगुन' से ही रहते हैं। मीरा के यहाँ सब कुछ खुला हुआ है। इस वजह से उनकी कविता का आँगन, अन्य भक्त कवियों की तुलना में ज्यादा विस्तृत एवं खुला हुआ है। उनकी काव्य-चेतना का मूल मंत्र है सबसे जानो, सीखो किन्तु करो वही जो तुम्हारा अपना निर्णय है। उनको राजसत्ता का वैभव अपने आकर्षण में न बाँध सका और उनके समय के भक्ति-विवेचक सम्प्रदायों की सत्ता के भीतर भी उनका मन न रम सका। उनकी इसी विवेक-चेतना ने उनको अलग से ऐसी राह दिखलाई, जिसके ऊपर उनके अलावा शायद ही कोई अब तक चल पाया हो।

निर्गुण -साधक भक्ति-परम्परा की अनेक बातें मीरा की कविता में यथावसर आई हैं। इस परम्परा की ज्ञानियों-योगियों की शब्दावली को उन्होंने हूबहू ग्रहण कर लिया है लेकिन इनकी दार्शनिक प्राणालियों के बंधन में बँधना उनको मंजूर नहीं था। स्वच्छन्द भावना उनकी अन्तर्वस्तु का वैशिष्ट्य ही नहीं है वरन् वह उनकी पूरी काव्यचेतना, काव्य विवेक एवं काव्यकला के भीतर समाया हुआ है। उनकी विशेषता बतलाते हुए विद्वानों ने माना है कि उनमें अन्य कृष्ण भक्त कवियों की भाँति भक्त एवं कवि दोनों रूपों का मेल दिखाई देता है। किन्तु उनका कवि रूप उनके भक्त-रूप के सामने कम उभर पाया है। कदाचित इसकी वजह भी उनकी स्वच्छन्द भावना ही है। सच तो यह है कि उनके यहाँ भक्त और कवि रूप का द्वैत है ही नहीं। वे एक ऐसी काव्यशास्त्र-सजग कवयित्री नहीं हैं, जिसने काव्यशिल्प और काव्यकला का सजग रूप से नियमित अध्ययन किया है। उनकी काव्यकला स्वतःस्फूर्त, सहज एवं अभ्यासजन्य है। उनके पास है जीवन की सहज, मार्मिक एवं सच्ची अनुभूतियों का उद्दाम आवेग, जो कविता की कला की बुनियादी शर्त है। काव्यकला की इस कसौटी पर उनकी कविता कहीं भी कमजोर नजर नहीं आती। यहाँ पर यह कहना भी गलत नहीं होगा कि मीरा की काव्यकला को लोककला की कसौटी पर परख कर देखा जाना चाहिए, न कि कुलीनतावादी काव्यशास्त्रीय-प्रतिमानों की कसौटी पर। मीरा की कविता सच्चे लोकहृदय की कविता है और उसके पीछे लोककला की ताकत छिपी हुई है। सही अर्थों में वह लोक की कला है।

यहाँ हम मीरा की काव्यकला की आधारभूमि के रूप में उनकी स्वच्छन्दता की भावना पर विचार करते हुए इस प्रश्न पर भी विचार कर सकते हैं कि एक भारतीय स्त्री होते हुए भी उन्होंने प्रेमाभक्ति का वह स्वरूप क्यों चुना, जो उनको स्त्री की सामाजिक मर्यादा से च्युत करता है। वे चाहतीं तो सखा एवं दास्यभाव की भक्ति आसानी से कर सकतीं थीं।

ज्ञानमार्ग पर चलकर प्रेमभावना का इजहार करना भी ज्यादा सुगम होता–यद्यपि ज्ञानमार्ग में भी कबीर ने राम को अपना प्रियतम मानकर भक्ति के एक विपरीत रूप को चुना–"राम मोरे पिउ, मैं राम की बहुरिया।" लेकिन यह स्वाभाविक नहीं होता। मीरा ने श्रीकृष्ण को अपना पति मानकर अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है, जो एक भारतीय स्त्री की रूढ़िवादी सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से आसान काम नहीं है। यह बात भी उनकी स्वच्छन्दभावना एवं विद्रोह को ही दर्शाता है। इसलिए उनकी भक्ति का क्षेत्र, एक विशुद्ध भक्त का क्षेत्र न होकर, उस भक्त का क्षेत्र है जो संसार से स्वतंत्र, विरत एवं उदासीन नहीं रहता। उनकी भक्तिभावना का स्वच्छन्द रूप, संसार, देश और समाज की स्थितियों को प्रभावित करने वाला एवं हस्तक्षेपकारी है। खासतौर से वह स्त्री के लिए युग-युगों तक संजीवनी का काम करने वाला है।

यदि हम मीरा की भक्ति-चेतना और शब्दसाधना पर उनके समय के प्रभावों का आकलन करें तो उनके ऊपर गोरखनाथ के हठयोग दर्शन का असर दिखाई देता है, संत-परंपरा का भी प्रभाव है कि वे कबीर आदि संतों की तरह बाहरी आडम्बरों का कठोरता से खण्डन करती हैं। विनय-भावना भी उनमें नजर आती है, ब्रज की गोपियों का भाव तो उनकी कविता की मूलधारा है ही, इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय भक्ति की कीर्तन-भजन पद्धति का प्रभाव भी उनके ऊपर है और चैतन्य महाप्रभु की तरह 'पग घुंघरू बाँध नाच नाच पिब रसिक रिझाने' की तर्ज पर वे स्वयं घुंघरू बाँधकर नाचती हैं। लेकिन इन सभी प्रभावों के बाद भी उनकी स्वच्छन्द भावना के आगे कोई अवरोध पैदा नहीं होता। वस्तुतः दाम्पत्य प्रेम-भावना में जीवन-सौन्दर्य का सबसे सुन्दर एवं सच्चा रूप मिलता है। दास्य भाव में द्वैत बना रहता है, सखाभाव में भी द्वैत पूरी तरह मिट नहीं पाता। अद्वैतभाव की पूर्णावस्था यदि किसी भाव में है तो वह दाम्पत्यभाव में, जहाँ द्वन्द्वात्मकता सबसे सहज रूप में अवस्थित रहती है। शायद यही कारण है कि हमारे यहाँ देव-स्वरूपों में दाम्पत्य-रूप को प्रधानता प्राप्त हुई। मीरा ने अपनी भावना और विवेक से दाम्पत्य-भाव के जिस मार्ग को चुना, वह उनकी भाववस्तु एवं कला दोनों को ही विशिष्ट रूप प्रदान करता है।

11.4 मीरा की काव्यकला

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि मीरा की काव्यकला का गहरा संबंध उनकी स्वच्छन्द भावधारा से है, जो उनको सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धनग्रस्तता से मुक्त कर अपने ही तरह की विशिष्ट भक्त एवं कवयित्री बनाता है। वे किसी भी तरह की शास्त्रीयता के बंधन में बँधकर चलने वाली रचनाकार नहीं हैं। इस वजह से उनका शब्द विन्यास, स्थापत्य, पद-रचना, अप्रस्तुतयोजना, काव्यबिम्ब, प्रतीक और शब्दों की लय एवं गीतात्मकता, उनकी काव्यकला को विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं।

11.4.1 शब्द-विन्यास एवं उक्ति-सौंदर्य

स्वच्छन्द भावधारा को प्रवाहित करने वाले रचनाकार की विशेषता होती है कि वहाँ शब्द, किसी विशेष व्यवस्था के अनुरूप व्यवस्थित न किए जाकर भाव-स्रोत की तरह प्रवाहित होते हैं। मीरा का शब्द-विन्यास उनके भाव-स्रोत के अनुरूप है, जो राजस्थानी के संस्कार से आवेष्टित है। उनकी कविता के पीछे उनके कुल-परिवार तथा उस तथाकथित सामाजिक मर्यादा की चुनौती है जो उनको अपने स्वतंत्र निर्णय करने से रोकती है। इसलिए वे अपने अनेक पदों से पूर्व पक्ष के रूप में उन बातों को प्रस्तुत करती हैं जिनके प्रतिरोध में वे अपना पक्ष रखती हैं। इससे उनके पदों में संवादपरकता तथा तार्किकता का एक क्रम बनता है। दरअसल, पद-रचना में दो पक्षों को एक साथ प्रस्तुत कर पाना आसान

काम नहीं होता। पद-रचना करने वाले कवियों ने सामान्यतया आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए ही इस काव्यरूप को चुना है और यह मीरा के उन पदों में दिखाई देता है, जहाँ उनकी सघन एवं सजीव आत्मानुभूतियों का निदर्शन हुआ है। लेकिन मीरा के सभी पद एकरूप नहीं हैं। कथ्य की विविधता ने उनमें रूप-परिवर्तन किया है। यहाँ उदाहरण स्वरूप मीरा का एक पद प्रस्तुत है –

अब मीरां मान लीज्यो म्हारी
हांजी थानै सइयां बरजै सारी
राजा बरजै राणी बरजै, बरजै सब परिवारी।
कुँवर पाटवी सो भी बरजै और सहेल्यां सारी।।1।।
सीसफूल सिर ऊपर सोहै, बिंदली सोभा न्यारी।
गले गूजरी कर में कंकण, नेवर पहरे भारी।।2।।
साधुन के संग बैठ बैठ के, लाज गमाई सारी।
नित प्रति उठि नीच घर जावो, कुल कूं लगावो गारी।।3।।
बड़ा घरां की छोरी कहावो, नांचो दे दे तारी।
बर पायो हिंदवाणो सूरज, अब दिल में कहा धारी।।4।।
तार्‌यो पीहर सासरो तार्‌यो, माय मोसाली तारी।
मीरा के सतगुरु जी मिलिया, चरण कमल बलिहारी।।5।।

उक्त पद में कुल बारह पंक्तियाँ हैं, जिनमें पूर्व की दस पंक्तियों में मीरा का अपना पक्ष न होकर समाज का पक्ष है। उनके साथ जो घटित हो रहा है, उसे वे छिपाकर नहीं रखना चाहती और न ही उसे संसार एवं माया का बंधन आदि कहकर वे उसकी उपेक्षा करती हैं। वे समाज के सामने सारी बातों को खोलकर रख देती हैं, जिससे यहाँ मीरा का अपने मन का यथार्थ ही उद्‌घाटित नहीं होता, बल्कि समाज की यह वास्तविकता भी सामने आती है कि जो व्यक्ति न्याय एवं समता की दिशा में परिवर्तनकारी काम करते हैं तथा यथास्थिति को बदलने की चेष्टा करते हैं, उनको किस-किस तरह उनके मार्ग को अवरुद्ध करने वाली ताकतें परेशान करती हैं। मीरा का समय वैसे भी सामन्ती रिश्तों वाला समय था। उस समय तो स्त्री का जीवन वर्जनाओं से ही भरा हुआ था। आज भी हम देखते हैं कि इस आधुनिक एवं लोकतांत्रिक समय में भी स्त्री को कितने तरह की सामन्ती वर्जनाओं का शिकार होना पड़ता है। यहाँ "बरजै" अकेला शब्द है, जो सारी हक़ीकत का बयान कर रहा है। हम किस तरह के वर्जना-प्रधान समाज में रह रहे हैं, जहाँ कदम-कदम पर वर्जनाओं से सबका पड़ता है। इस पद में 'बरजना' क्रिया पर बलाघात है।

यहाँ कौन है, जो मीरा को उनके भक्ति के स्वच्छन्द पथ पर चलने से रोक नहीं रहा है। राजा, रानी, परिवारजन, युवराज और सहेलियाँ सभी तो मीरा को रोकने वाले हैं। वे याद दिलाती हैं कि उनको हिन्दू कुल शिरोमणि मेवाड़ी पति मिला है। लेकिन मीरा अपने निर्णय पर अटल रहती हैं। वे उक्त बातों का एक ही उत्तर देती हैं कि वे तो पीहर-ससुराल और अन्य सभी सगे-संबंधियों का उद्धार करने के काम में लगी हैं। उनके इस काम से सभी का हित होने वाला है। वे ही उनकी मुक्ति का सच्चा उपाय कर रही हैं। मीरा को सतगुरु मिल गया है, जो आसानी से नहीं मिलता, इसीलिए वे तो उनके चरण कमलों पर न्यौछावर होती हैं। मीरा ने चूँकि श्रीकृष्ण को अपना पति मान रखा था, इसलिए वे शृंगारिक वेश में गाती हैं, नाचती हैं। उन्होंने अपने सिर पर सीसफूल, माथे पर बिन्दी, गले में गूजरी, हाथ में कंकण और पैरों में भारी जेवर जैसे आभूषण धारण कर रखे हैं। यह सामन्ती मर्यादाओं का उल्लंघन एवं अवमानना है। इसी से सभी लोग उनकी वर्जना करते हैं। इतना ही नहीं, वे इसी वेश में साधुओं के संग बैठती हैं, सत्संग करती

हैं। सामंती समाज की नज़र में उन्होंने स्त्री की गौरव लाज-शर्म को पूरी तरह भुला दिया है। इस बात से भी उनके उच्चकुल को दाग लगता है कि वे रोज सुबह नीच व्यक्ति के घर जाती हैं। कहा जाता है कि रैदास को मीरा ने अपना गुरु बना लिया था। यहाँ 'नीच घर जावो' से इसी ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। एक उच्चकुल की महिला, दलित के घर जाए, इससे बड़ी शर्म की बात क्या हो सकती थी? इतना ही नहीं मीरा के द्वारा नृत्य किए जाने पर भी एतराज़ किया जाता है कि बड़े घरों की युवतियाँ इस तरह ताली दे–देकर नाचती नही हैं।

मीरा भक्त कवयित्री थीं और भक्ति के पूर्व प्रचलित किसी साम्प्रदायिक बंधन में बँधकर वे भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुई थीं। उन्होंने सब कुछ देख–समझकर अपना स्वतंत्र प्रेमाभक्ति का मार्ग चुना था। इसलिए उनकी भक्ति पर सगुण-निर्गुण संत एवं नाथ परम्परा का प्रभाव एक साथ था। वे सब में से अपने मन के अनुकूल चुनने को स्वतंत्र थीं। यही कारण है कि उन्होंने अपने इष्ट-आराध्य के लिए कोई एक सम्बोधन स्वीकार नहीं किया–उनके लिए वह गिरिधर गोपाल भी हैं– 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।' कहीं वह कृष्ण बन जाते हैं – 'अंखिया कृष्ण मिलन की प्यासी। वही राम भी हो जाते हैं – अब तो मेरा राम नाम, दूसरा न कोई।' कहीं कहीं तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनके यहाँ 'श्याम' और 'गिरधर' में भी अन्तर है–जैसे –''अब ना रहूँगी श्याम अटकी, म्हारो मन लाग्यो गिरधर से।" उनके यही आराध्य कहीं 'महाराजा' बन गए हैं – "ओळू थारी आवै हो महाराजा अविनासी।" कहीं वे सालिगराम के रूप में सम्बोधित हैं। हरि, गोबिन्द, गोपाल, नंदलाल, मनमोहन, साँवरिया, बलबीर, चतुर्भुज आदि शब्द-प्रयोग भिन्न-भिन्न अवसरों के अनुकूल हैं। वे दीनानाथ भी हैं– "थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ, मैं हाजिर (नाजिर) कद की खड़ी।" मीरा ने कृष्ण के 'रणछोड़' रूप का भी स्मरण किया है – "दीज्यो म्हानैं द्वारका को बास, रूड़ा रणछोड जी हो।" कहीं वे नारायण हैं– "मैं तो सपने नारायण की आप ही हो गई दासी रे।" मीरा ने प्रसंग के अनुरूप अपने इष्ट को 'अन्तरजामी' भी कहा है – 'बेगि मिलौ प्रभु अन्तरजामी तुम बिन रह्यो न जाय।' 'जगदीस' शब्द का उनके यहाँ विशिष्ट प्रयोग है। इस तरह के विशिष्ट शाब्दिक प्रयोग से संबंधित एक पूरा पद इस प्रकार है –

माई म्हांने सुपने में परण गया जगदीस।
सोती को सुपणा आविया जी सुपणा बिस्वाबीस।।
गैली दीखै मीरा बाबली सुपणां आलजंजाल।
माई म्हांने सुपणे में परण गया गोपाल ।।
अंग अंग हल्दी में करी जी सुधे भीज्यौ गात।
माई म्हांने सुपणे में परण गया दीनानाथ।।
छप्पन कोटि जहाँ जान पधारे दूलह श्री भगवान।
सुपणे में तोरण बाँधियो जी, सुपणे में आई जान।।
मीरा को गिरधर मिल्या जी, पूरब जनम के भाग।
सुपणे में म्हांने परण गया जी हो गया अचल सुहाग।।

इस पूरे पद में कथ्य एक लोकगीत की तरह आया है। विवाह का रूपक है, जो इष्ट-सम्बोधनों के पर्यायों में सूत्रबद्ध होकर यहाँ मीरा के भावों की एकलय का सृजन कर रहा है। यहाँ एक तरह की शब्द-सजगता भी दिखाई देती है, जो अध्ययन से ज्यादा अनुभव से प्राप्त हुई है। इसके अलावा सन्त-परम्परा और नाथ परम्परा में प्रचलित सम्बोधनों-जोगी, जोगीड़ा, स्वामी, अबिनासी, सतगुरु, खसम, रमैया-का प्रयोग भी मीरा ने निस्संकोच किया है। इसी तरह वे अपने इष्ट को प्रभु, प्रभुजी, प्रिय, प्रियतम, पिया, सजन, प्रान आधार, धणी, महाराजा, ठाकुर, रावल, हुजूर, गरीब निवाज कहकर भी संबोधित करती हैं। देखने

की बात यह है कि ये शब्द मात्र पर्यायवाची की तरह नहीं आए हैं बल्कि इनका संदर्भगत अर्थ, इनको एक विशिष्ट चमक से न केवल काव्यात्मक बनाता है वरन् सृजनात्मक भी। एक पीड़ित-उत्पीड़ित व्यक्ति अपनी व्यथा और दर्द का इजहार कितनी तरह से और कितने रूपों में कर सकता है, यह बात हम मीरा की कविता से जान सकते हैं। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है और यही उनकी काव्यकला का केन्द्र बिन्दु है। मीरा के पदों को पढ़ते हुए प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि जैसे हम दर्द के महासागर से गुजर रहे हैं और उससे जो तरंगें उठ रही हैं, वे एक ही जल से उठी हुई भिन्न-भिन्न तरंगें हैं।

11.4.2 पद-रचना-शैली

हिन्दी भक्तिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति के लिए कवियों ने पद-रचना को प्रमुखता दी है। पद-रचना की शैली में कवि आत्मानुभूतियों की व्यंजना जिस गहराई से कर पाया है, उतना किसी अन्य काव्यरूप एवं शैली में नहीं। पद-रचना की परम्परा हिन्दी काव्य-रचना से पहले प्राकृत, अपभ्रंश में मिलती हैं, जो हिन्दी के सिद्धों और नाथों तक चली आई है। इसको ही लोक ने भी अपनाया और गीतात्मक रूपों वाली अभिव्यक्ति के लिए खासतौर से अंगीकार किया। नाथपंथियों एवं योगियों से होते हुए पद-रचना की परम्परा नामदेव, कबीर, सूर, नानक, मीरा, तुलसी तक मिलती हैं। हिन्दी में पद-रचना के शुरूआती प्रमाण सिद्धों के चर्या पदों में मिलते हैं। दरअसल, पद-रचना से संगीत का गहरा जुड़ाव रहा है। आज़ भी शास्त्रीय संगीत में पदों को जो महत्व प्राप्त है, वह किसी अन्य रूप को नहीं। 'ध्रुपद' संगीत-शैली को 'ध्रुव-पद' का ही तद्भव रूप माना जाता है। राजस्थान में पद-रचना की यही परम्परा सिद्धों एवं नाथों से आई, जहाँ से मीरा को प्राप्त हुई होगी। राजस्थानी भाषा में मीरा से पूर्व साहित्य में कान्हडदे प्रबंध में और इसके बाद धन्ना, पीपा, बालनाथ, जसनाथ आदि संत कवियों में पद-रचना की परम्परा मिलती है।

हम जानते हैं कि मीरा का भक्तिमय जीवन, साहित्य एवं संगीत दोनों ही कला-रूपों में सरोबार रहा है। मीरा ने स्वयं पद रचे और उनके साथ नृत्य भी किया है–'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे' जैसी पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। मीरा के पदों को रागों में गाया जाता रहा है। इसीलिए इनके पदों के साथ रागों के भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख मिलता है। 27 रागों के नामों का उल्लेख विद्वानों ने किया है, जो मीरा के पदों के साथ संबद्ध है। इनमें आनन्द भैरो, जोगिया, विहाग, असावरी, अडाणा, पीलू बरवा, झंझोटी, जोनपुरी टोड़ी, मल्हार, सारंग, देस, कल्याण, भोपाली, मीरा की मल्हार, सोरठ, भैरवसिंध, बिलाबल, काफी, परज, मांड आदि विशेष रूप से चर्चित एवं प्रसिद्ध रहे हैं। जरूरी नहीं है कि आज मीरा के पदों के साथ, जो राग-विधान मिलता है, वही सब मीरा के समय से चला आ रहा है। यह बाद के संगीतकारों की रचना भी हो सकती है। यहाँ कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि मीरा की काव्यकला को निखारने में संगीत की कला की भी बहुत बड़ी भूमिका रही है। संगीत के लिए की गई विशिष्ट पद-रचना से कविता की कला को एक नया आयाम मिला है। वस्तुतः इन पदों में प्रयुक्त होने वाले रागों या कहें कि रागों के माध्यम से व्यक्त होने वाले भावों का संबंध मीरा की वेदना, दर्द, गहरी आत्मानुभूति, उमंग-उल्लास आदि से रहा है। हम देखते हैं कि मीरा के पदों में व्यक्त शृंगार और करुण दो मुख्य भाव हैं। इनमें जोगिया राग में करुण भावों को तथा आसावरी, पीलू, भैरवी आदि रागों में शृंगारिक भावों को व्यक्त किया गया है। जहाँ उनके स्वभाव की दृढ़ता, साहस और निडरता को व्यक्त किया गया है, वहाँ राग बिहाग का खास उपयोग मिलता है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है कि पद-रचनाओं में आत्मानुभूति की प्रमुखता रहती है। यही मीरा के पदों में है, जहाँ आत्मपरकता एक खास रूप में व्यक्त हुई है। इनका पाठक

या गृहीता के मन पर सीधा असर होता है। आत्मपरकता की इस कला में रचयिता और पाठक के बीच कोई अन्य नहीं रहता। मीरा अपनी बात को सीधे-सीधे रखती हैं कि – "आये मेरे अंगना, फिरी गए सजना, मैं अभागन रही सोय री।" या फिर "सेज अलूणी, भवन अकेली, रैण भयंकर भेस। आब सलूणे प्रीतम प्यारे बीते जोबन बेस।" यहाँ पद-रचना में जिस तहर का उतार-चढ़ाव या स्वरों का आरोह-अवरोह आता है, वह सीधा ही रसिक मन पर असर करता है।

पद-रचना भी एक तरह की छन्द-विधा ही है, लेकिन मीरा के पदों में छंदों जैसा मात्राओं या वर्ण-क्रम का कोई बंधन नहीं मिलता। उन्होंने पदों में अभिव्यक्ति अवश्य की है, किन्तु उसने किसी शास्त्रीय विधान एवं अनुशासन को नहीं माना है। जैसे सूर-तुलसी के पदों में एक तरह का काव्यानुशासन और कसावट देखने में आती है, वैसी बात मीरा के यहाँ नहीं है। इस मामले में भी उनकी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति ने ही बाजी मारी है। सच तो यह है कि मीरा ने सजगतापूर्वक काव्यपथ को नहीं अपनाया था। परिवेशगत सजगता ने ही उनकी सहज काव्यप्रतिभा को यह अवसर प्रदान किया था, जिसका पूरा उपयोग उन्होंने मुक्त मन से किया। उन्होंने काव्यानुशासन से अधिक 'गेयता' का ध्यान रखा है और उसी से उनकी कला को उनका अपना रूप प्राप्त हुआ है।

बताया जाता है कि मीरा की पद-रचना में 16 मात्रा के चौपाई छंद से लगाकर 32 मात्राओं वाले छंदों के प्रमाण मिल जाते हैं, किन्तु उनका कठोर अनुशासन कहीं भी नजर नहीं आता। जैसे लोकगीतों को हम किसी तरह के काव्यानुशासन में बाँधकर नहीं देख सकते, वैसे ही मीरा के पदों को भी किसी छन्दानुशासन में बाँधकर देख पाना संभव नहीं है। उनकी रचना लोकप्रकृति की रचना है, शास्त्र के अनुशासन में बँधी हुई रचना नहीं।

मीरा की पद-रचना की एक विशेषता है उनके पदों में प्रयुक्त विशिष्ट उक्ति-विन्यास। कई स्थानों पर उन्होंने प्रसिद्ध एवं लोकप्रचलित बातों को एक विलक्षण उक्ति-विन्यास में प्रस्तुत किया है। मीरा की कविता की प्रकृति लोकधर्मी है, शास्त्रनिष्ट अभिजातधर्मी नहीं। उनका सम्पूर्ण भक्तिभाव, आभिजात्य के विरोध में है, और साधारणता के पक्ष में है। साधारण जन की भाषिक संरचना में उक्ति-सौन्दर्य के कई रूप दिखाई देते हैं। मीरा अपनी तरह से उनका उपयोग करती हैं और अपनी शैली में रचती हैं। कविता में नाद-सौन्दर्य का अपना महत्व रहा है। मीरा की कविता में इसकी अपनी बनक है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

1. छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
2. कछु लेना न देना मगन रहना।
3. कनैय्यो तेरो जमुना में कूद पर्‌यो रे।
4. कोई कहियो रे प्रभु आवन की, आवन की मनभावन की।।
5. हे री मैं तो दरद दिवानी, मेरा दरद न जानै कोय।

11.4.3 अप्रस्तुत योजना

मीरा की कविता की संरचना में प्रयुक्त उक्तियाँ अपने सौन्दर्य के कारण लोकोक्तियाँ बन गई हैं। मीरा की दर्द-दीवानी छवि पूरे भारत में रही है–'हे री मैं तो दरद दिवानी मेरा दरद न जानै कोय' -वाक्य आज एक लोकोक्ति बन चुका है। इन उक्तियों में उनके द्वारा सहज रूप में प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधान से उपमा और रूपकों का जो सृजन हो गया है, उससे उनका पाठक के मन पर विशेष प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। भावों में वेग, गति एवं तीव्रता लाने के लिए वे जिन अप्रस्तुतों को लाती हैं, उनमें वे किसी तरह के वैचित्र्य

का संधान न करके सहजता के पथ का वरण करती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि वे शिल्प एवं कला-सजग कवयित्री नहीं है। भावोत्तेजना के क्रम में कला का जो भी रूप आता और बनता गया है, वही उनकी कलात्मकता है। उनकी अप्रस्तुत योजना को निम्नांकित उदाहरणों से समझा जा सकता है –

उपमा एवं रूपक से संबंधित सादृश्य-विधान का एक अनूठा उदाहरण–

जोगिया प्रीतड़ी है, दुखड़ा रो मूल।
हिलमिल बात बनावत मीठी, पीछे जावत भूल।
तोड़त देर करत नहिं सजनी, जैसे चमेली के फूल।
मीरां के प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लगे हिवड़े में सूल।।

इस पूरे पद की संरचना में उपमा एवं रूपक का सादृश्यविधान इस तरह पिरोया हुआ है कि कवयित्री के अलंकृत कथन भी यहाँ सामान्य कथन से प्रतीत होते हैं। यहाँ 'प्रीतड़ी' और 'दुखड़ा' शब्दों की व्यंजना की कलात्मकता से परिपूर्ण है। प्रीत में 'ड़ी' और दुख में 'ड़ा' प्रत्यय इन शब्दों को अर्थ की एक विशेष गरिमा प्रदान कर रहे हैं और बतला रहे हैं कि इन दोनों की प्रकृति एक जैसी है। 'प्रीत' जहाँ है वहाँ दुख है और दुख के बिना सच्ची प्रीत भी कहाँ है? सुख के प्रेम में स्वार्थभावना रहती है जबकि दुखात्मक प्रेम में उसका लोप हो जाता है। यहाँ 'चमेली के फूल' और 'हिवड़े में सूल' पदों की भी अत्यंत सार्थक व्यंजनाएँ हैं, जो इस पद की काव्यात्मकता के सौंदर्य में वृद्धि कर रही हैं। यही कला उनके अन्य पदों में भी मिलती है।

11.4.4 काव्यबिम्ब

कविता की प्रकृति बिम्बात्मक होती है। साहित्य-चिन्तकों ने बतलाया है कि कविता में बिम्बग्रहण होता है। बिम्बों का आधार होता है रचनाकार का इंद्रियबोध। व्यक्ति अपनी पांचों ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से दुनिया एवं प्रकृति के यथार्थ का अवग्रहण करता है और इसी से रूप, रस, गंध-स्पर्श और शब्द की रचना साहित्य में होती है। यही रचना बिम्ब रूप में प्रत्यक्ष होती है। इस दृष्टि से मीरा की कविता में बिम्ब और भावों का अद्‌भुत सामंजस्य देखा जा सकता है। उनकी कविता बिम्बों से आपूरित है। कोई ही वाक्य, कथन, उक्ति या शब्द होगा जो बिम्बात्मक न हो। उदाहरण स्वरूप एक छोटा सा पद प्रस्तुत है –

प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय।
छोड़ गया बिस्वास सँगाती प्रेम की बाती बराय।
बिरह समंद में छोड़ गया छो, नेह की नाव चलाय।।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम बिन रहा न जाय।।

इस पद में 'नेहड़ो लगाय', 'प्रेम की बाती बराय', 'बिरह समंद', 'नेह की नाव' में बिम्बों का सौन्दर्य देखा जा सकता है।

मीरा की कविता में प्रयुक्त अन्य अनूठे बिम्ब इस प्रकार हैं –

1. मथुरा में कुबजा कर राखी, म्हाजन की–सी हाट।
2. स्याम तुम्हारे कारण राधा सूक गयी तिनका–सी।।
3. पाना ज्यूं पीली पडी रे अन्न नहिं खाती।
4. ए दोई नैण कह्यो नहिं मानैं, नदियाँ बहैं जैसे सावन की।।

रेखांकित काव्य बिम्बों की सर्जना में मीरा की जीवनानुभूतियों का योगदान रहा है। उन्होंने जो कुछ अपने आसपास घटित होते देखा, वही सब यहाँ काव्यबिम्ब के रूप में

आ गया है।

11.4.5 गीतिपरकता

जैसा कि हमने पहले भी चर्चा की है कि मीरा की कविता का संगीत से भी उतना ही गहरा संबंध रहा है जितना कि भावानुभूतियों से। अपनी जीवनानुभूतियों को उन्होंने इस तरह की भाषिक संरचना में पिरोया है कि वह संगीत की अनुकूलता में बनी रहे या उन्होंने अपने भीतर के संगीत के अनुरूप अपनी भाषिक संरचना की है। सूर, कृष्ण काव्य परम्परा के विशिष्ट महाकवि हैं। किन्तु मीरा ने अपनी जीवनानुभूतियों को ही कृष्णमय बनाकर प्रस्तुत किया है और वे स्वयं ही राधामयी हो गई हैं। उनकी कविता से गुजरते हुए, विशेष मेवाड़ी संदर्भों को छोड़कर, यही प्रतीत होता है कि स्वयं विरहिणी राधा ही इस कविता का सृजन कर रही हैं।

गीतिपरकता, उनकी काव्यकला की विशेषताओं में प्रमुख है। उन्होंने गीति की मुक्त एवं स्वच्छन्द कला को ही विशेष स्थान दिया है और संगीत, कलागीत एवं लोकगीत की तीन श्रेणियों में उनकी कला, लोकगीत की कला के सबसे निकट जान पड़ती हैं। मीरा ने लोक में प्रचलित गीत-संरचना से बहुत कुछ सीखकर उसे अपना बनाया है। इसी से उनकी कला में किसी भी तरह की कृत्रिमता आने से रह गई है। सहजता, तीव्रता और सघनता, उनकी कला को विशेष आयाम देने वाली विशिष्टताएँ कही जा सकती हैं।

11.4.6 प्रतीक-विधान

काव्य कला की दृष्टि से कविता में प्रतीकों का नियोजन विशेष महत्व रखता है। साहित्य की कला को प्रतीकों के नियोजन से एक खास भंगिमा प्रदान की जाती रही है। यह नियोजना, कविता को जातीय रूप भी प्रदान करती है। मीरा अपनी कला के प्रति अतिरिक्त रूप से सजग नहीं रही हैं। उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही काव्य-शब्द को माध्यम बनाया है। अतः कलात्मकता के जितने भी विशेष विधान संभव हैं वे सभी सहज अभ्यास के रूप में उनकी कविता में स्थान पा गए हैं। प्रतीकों के बारे में वे सजग नहीं रही हैं फिर भी बिम्ब, अप्रस्तुत योजना की तरह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की कला भी उनके यहाँ सहज रूप से आ गई है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपनी अनुभूति को पूरी तरह प्रतीकात्मक रंग देकर व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए उनके एक पद का अंश प्रस्तुत है –

> बड़े घर ताली लागी रे, म्हारा मन री उणारथ भागी रे।
> छीलरिये म्हारो चित्त नहीं रे, डाबरिये कुण जाब।
> गंगा जमुना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाय मिलूँ दरियाब।।

इस पूरे पद में ही मीरा ने प्रतीकों को काम में लिया है। उन्होंने यहाँ 'छीलरिये' 'डाबरिये' 'गंगा-जमुना' और 'दरियाब' प्रतीकों से बतला दिया है कि उनकी भक्ति का बहुत बड़ा एवं सार्थक प्रयोजन है। इन प्रतीकों के अलावा जहाँ उनकी कविता पर नाथों-सिद्धों का प्रभाव दिखाई देता है, वहाँ भी उन्होंने रहस्य-साधना संबंधी प्रतीक योजना के अनुसार अपने भावों को व्यक्त किया है। साथ ही उन्होंने दादुर, पपीहा, बादल, सावन, नदिया, नाव, कोयल, जोगी आदि को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देकर अपनी कला को एक विशिष्ट आयाम प्रदान किया है।

11.5 सारांश

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीरा का काव्य, यद्यपि शिल्प और कला के प्रति सजग काव्यों की श्रेणी में नहीं आता, तथापि कलात्मकता की कोई कमी उनके काव्य में नज़र नहीं आती। काव्यरचना के लिए जिस तरह की सहज कलात्मकता एक स्वच्छन्दता प्रिय रचनाकार में होनी चाहिए, वैसी कला मीरा के यहाँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। दरअसल, मीरा की कविता की कला का मूल्यांकन हम किसी तरह के पूर्व-निर्धारित काव्य-प्रतिमानों से नहीं कर सकते, उसके लिए हमको मीरा के काव्य के भीतर से ही उनके कला-प्रतिमानों को आविष्कृत करने की जरूरत है, जिनकी रचना उनके यहाँ बिना किसी प्रयास प्रयत्न के सहज रूप से हो गई है। उनकी कविता उस नदी की तरह है, जो अपने तटों का निर्माण स्वयं अपने जलप्रवाह से करती है, न कि उन नहरों की तरह, जिनके प्रवाह के लिए कृत्रिम तौर पर तटों का निर्माण किया जाता है। उनकी कला में शब्दों और उक्ति-कथनों का अपना सौन्दर्य है। जिस पद-रचना शैली को उन्होंने अपनाया, उसको उन्होंने अपना विन्यास और रंग देकर अपना बना लिया है। अप्रस्तुत योजना की दृष्टि से उनका सादृश्य विधान मौलिक एवं सारगर्भित है। काव्यबिम्बों में ताजगी, सजीवता एवं रंग-रूप का अनूठापन है। प्रतीकों के नियोजन ने उनकी काव्यकला को विशिष्ट आयाम प्रदान किया है तथा लोकगीतों की–सी भावसमृद्धि से उनकी काव्यकला चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है।

11.6 अभ्यास प्रश्न

1. मीरा की काव्यकला की आधारभूमि-स्वच्छंदता की भावना की विवेचना कीजिए।
2. मीरा की कविता में निहित शब्द-विन्यास का विश्लेषण कीजिए।
3. मीरा की काव्यकला में 'पद-रचना' के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. मीरा की काव्यकला में 'अप्रस्तुत योजना', 'काव्यबिम्ब' व 'प्रतीक-नियोजना' को समझाइए।
5. मीरा की काव्यकला में गीतिपरकता का विवेचन करते हुए स्पष्ट कीजिए उनकी कला-दृष्टि में प्रमुखता किस बात की है?

इकाई 12 मीरा की वेदना और विद्रोह

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 मीरा की वेदना और विद्रोह की भौतिक पृष्ठभूमि

- 12.2.1 मीरा का बाल्यकाल : वैष्णवता की आधारभूमि
- 12.2.2 मीरा का विवाह और मेवाड़ की नई भावभूमि
- 12.2.3 मीरा का वैधव्य और स्त्री जीवन की व्यथाएँ
- 12.2.4 मीरा का अपना विकल्प : भक्ति का स्वच्छन्द पथ

12.3 मीरा की उदात्तता व आदर्श

- 12.3.1 महत् का वरण : सामान्य जन के लक्ष्य से भिन्न
- 12.3.2 समता-स्वाधीनता के अनजाने पहलू

12.4 मीरा का विद्रोह और वेदना

- 12.4.1 विद्रोह और वेदना का निजी स्तर
- 12.4.2 विद्रोह के सामाजिक प्रभाव : रूढ़ि-विरोध
- 12.4.3 भक्ति का विद्रोही स्वरूप
- 12.4.4 युगीन साम्प्रदायिक आग्रहों का अस्वीकार

12.5 मीरा की विरह-वेदना

12.6 सारांश

12.7 अभ्यास प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

- मीरा की वेदना और विद्रोह की भौतिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे;
- मीरा के बाल्यकाल, विवाह व मेवाड़ के नवीन परिवेश की विषम स्थितियों को जान सकेंगे;
- मीरा के स्त्री-जीवन की सीमाओं व उनकी व्यथा से परिचित हो सकेंगे;
- मीरा के अपने स्वच्छन्द भक्ति-पथ के विकल्प को जान सकेंगे;
- मीरा के जीवन की उदात्तता व आदर्श को समझ सकेंगे;
- मीरा के विद्रोह के निजी एवं सामाजिक अभिप्रायों की विवेचना कर सकेंगे; और
- मीरा की विरह-भावना में व्यक्त उनकी वेदनानुभूति को स्पष्ट कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

मीरा की कविता अपनी भावसमृद्धि के लिए प्रसिद्ध है। इसमें भी उनकी प्रेम-भावना के अंतर्गत जो विरह-वेदना व्यक्त हुई है, वह इतनी उदात्त एवं गंभीर है कि इसमें उतरते हुए पाठक को लगता है कि वह मनुष्यता के भाव-सरोवर में अवगाहन कर रहा है। यद्यपि पहले सोपान पर मीरा की वेदना, उनकी निजी वेदना जैसी लगती है किन्तु जिस त्याग और बलिदान की भूमिका में वह व्यक्ति-आचरण के स्तर पर क्रियान्वित होती हुई तत्कालीन सामन्ती परिवेश में स्त्री-मुक्ति के सवाल के रूप में उभरकर आती हैं, वह उसे भारतीय समाज और सम्पूर्ण मानव-जाति के सम्बद्ध कर देती है। मीरा को प्रेम-दीवानी कहा गया है। इस संदर्भ में उनका एक पद 'हे री मैं तो दरद-दीवानी, मेरौ दरद न जानै कोय'-बहुत प्रसिद्ध रहा है। हमें मालूम है कि मीरा का विवाह तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार मात्र तेरह वर्ष की अबोध अवस्था में कर दिया गया था और मात्र पाँच वर्षों के भीतर उनको वैधव्य का अभिशाप भोगना पड़ा था। राजमहलों से जुड़ी एक युवा राजपूत विधवा के लिए इससे बड़ा अभिशाप और कोई हो ही नहीं सकता। इसके ऊपर भी स्त्री-जाति के लिए असंख्य बंधनों, अपशकुनों और अंधविश्वासों की कुटिल प्रताड़नाओं से आकण्ठ भरे समाज का एक क्रूर निजाम। मीरा की वेदनानुभूति में सहजता, निर्मलता, गंभीरता और निडरता का जो घनीभूत आवेग दिखाई देता है, उसका आधार उनकी ये सांसारिक परिस्थितियाँ ही रही हैं।

मीरा के जीवन में वेदना की शुरूआत उसी समय से होती है, जबकि उन्हें अपने जीवन के संबंध में निर्णय करने से रोका जाता है। उनके बारे में यद्यपि यही मान्यता प्रचलित है कि वे अपने पति भोजराज के साथ तक दाम्पत्य की दृष्टि से सुखी थी। वैधव्य की स्थिति में ही वे विद्रोही हुईं। तथापि इसके दूसरे पक्ष का उल्लेख भी जनश्रुतियों में मिलता है। इनमें कहा गया है कि मीरा पहली बार अपनी ससुराल पहुँची तो उनसे वहाँ की प्रथा के अनुसार कुलदेवी की पूजा करने के लिए आग्रह किया गया किन्तु उन्होंने यह कहते हुए पूजा करने से इन्कार कर दिया कि 'जो पहले से ही गिरधारी लाल के हाथ बिक चुका है, वह किसी अन्य की पूजा कैसे कर सकता है।' विवाद की शुरूआत यहीं से हो गई। बार-बार अनुरोध करने पर भी जब मीरा कुलदेवी की पूजा करने को तैयार नहीं हुई तो उनकी सास ने उनके पति भोजराज से उलाहना देते हुए कहा कि 'यह वधू तो किसी काम की नहीं, इसने मेरा अपमान किया है–"यह वधू नहीं काम की अब ही जवाब दियौ, कियौ अपमान मेरौ, आगे क्यों प्रमाण करे?" किंवदन्ती यह भी है कि मीरा का प्रतिरोध उनके अपने पति से ही आरंभ हो गया था। विवाह के बाद भी वे कुँवारी ही रही। उनको जहर देने का प्रयास इसलिए किया गया कि उन्होंने अपने पति से संसर्ग रखने के बजाय भक्तों से साहचर्य ज्यादा पसंद किया। इनमें जो भी पक्ष सच हो किन्तु यह बात सत्य है कि मेवाड़ की परिस्थितियों में मीरा ने विद्रोह किया था, जिससे उनको त्रस्त होना पड़ा। उनके इसी त्रास ने उनको इतना कृष्णोन्मुख कर दिया कि वे उनसे मिलन की कामना के उद्देश्य से अपने भावों को विरह-वेदना के रूप में व्यक्त करने लगी। यही वेदना, उनकी कविता के महत्व को स्थापित करती है, जो न केवल जीवन की वास्तविकताओं से उत्पन्न है बल्कि एक महान व्यक्तित्व की निर्मात्री भी है।

12.2 मीरा की वेदना और विद्रोह की भौतिक पृष्ठभूमि

भक्ति के संदर्भ में सामान्यतया यह माना जाता रहा है कि वह ईश्वरीय या कोई अलौकिक देन है। उसका इस संसार से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन अब इस दूसरे मत को स्वीकार कर लिया गया है कि 'भक्ति' का संबंध इसी लौकिक जगत से है। वह

व्यक्ति के महान आदर्श और सद्भावों की अभिव्यक्ति है। इस संसार के रिश्तों में जो मनुष्यता-विरोधी कुरूपता दिखलाई पड़ती है, उसी का एक सौन्दर्यपूर्ण विकल्प हमको भक्ति के क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है, जहाँ स्वार्थ और संकीर्णताओं की कुटिल चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं, और मनुष्य अपनी उदात्त अवस्था में पहुँच जाता है। यह अलग बात है कि सांसारिक रिश्तों, जरूरतों और इच्छाओं के चलते, भक्ति-क्षेत्र में जाने पर भी ऐसा हो पाना बहुत कठिन है कि सारे लोग संसार से विरक्त होकर एक विरक्त दुनिया का निर्माण कर लें। यहाँ भक्तिक्षेत्र के अस्तित्व के बावजूद सांसारिकता की जैसी प्रबलता नजर आती है, उससे तो सांसारिकता का पक्ष ही ज्यादा सुदृढ़ दिखाई पड़ता है। यह संसार की भौतिक स्थितियाँ ही हैं जो व्यक्ति के मन और संस्कारों का निर्माण करती हैं। मीरा के जीवन व भौतिक परिवेश से भी यह पुष्ट होता है कि उनकी वेदनानुभूति का गहरा रिश्ता उनकी अपनी परिस्थिति व उन निर्णयों से रहा है, जो उन्होंने तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था के रीति-रिवाजों से विद्रोह करके स्वाधीनता की स्थिति में पहुँचकर लिए हैं। इसी वजह से उनको सामन्ती दण्ड-विधान की यातनाओं से गुजरना पड़ा है, जो पुरुष व स्त्री के लिए भिन्न-भिन्न रहा है। सामन्ती व्यवस्था में स्त्री को पुरुष की अनुचरी या सहायिका के रूप में ही जीवन के सुखोपभोग करने की अनुमति रही है, जिसका उल्लंघन करने पर उसे मार देने तक में कोई अपराधबोध नहीं होता। कहने का मतलब यह है कि मीरा की वेदना का आधार भौतिक है, जिसका वह कृष्ण भाव में तिरोहित होकर उसका अतिक्रमण कर जाती है। यही उसकी अद्वितीयता और असाधारणता है।

12.2.1 मीरा का बाल्यकालः वैष्णवता की आधारभूमि

मीरा की वेदना, उनकी वैष्णवता की भूमि पर व्यक्त हुई है। यह भूमि उनके बाल्यकाल में ही मेड़ता-मारवाड़ में बन गई थी। जिसकी आगे चलकर चित्तौड़-मेवाड़ की शाक्त-परम्परा से टकराहट हुई। जनश्रुति है कि मीरा के वैष्णव संस्कार उनके बालपन में ही बन गए थे। वे मेड़तिया राठौड़ शाखा में जन्मे रतनसिंह व वीर कुँवरी की सन्तान थीं। कहा जाता है कि बचपन में मीरा ने अपनी माँ से 'पति' का मतलब जानने का बालहठ किया और पूछा कि जब हरेक लड़की का पति होता है तो मेरा भी कोई पति होगा। बेटी के इस तरह के सवालों से तंग आकर एक बार माँ ने श्रीकृष्ण की प्रतिमा को लक्ष्य करते हुए उसके बहलाव के लिए कह दिया कि वो देखो! वो रहे तुम्हारे पति।' कहते हैं कि उसी दिन से मीरा, श्रीकृष्ण को अपना पति मानने लगी। इस बात में कितना सच है और कितना यह मनगढ़न्त है, यह कोई नहीं जानता। इतना अवश्य है कि मीरा के पीहर की धर्मभूमि पर वैष्णव संस्कार फल-फूल रहे थे और इन्हीं का असर रहा कि मीरा ने कृष्ण -भक्ति -मार्ग को इतनी दृढ़ता से पकड़ा कि उसके लिए वह उसके जीवन का उद्देश्य बन गया और वह सबसे विद्रोह करने को तत्पर हो गईं। इस मामले में उसने किसी का दबाव नहीं माना। सभी से सीधे-सीधे कहा– "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई! जाके सिर मोर मुकुट मेरौ पति सोई।" दूसरी बात यह भी है कि उस समय की स्त्री के लिए एक बन्द सामन्ती समाज में मुक्त गगन में साँस लेने का अवकाश एकमात्र कृष्ण आराधना में ही आसानी से सुलभ था। कृष्ण भक्ति में पहले से ही गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति इसी तरह का माधुर्य भाव व्यक्त किया था जो मीरा के लिए एक सुदृढ़ आधारभूमि साबित हुई। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' के मीरा संबंधी छप्पय में इस बात का उल्लेख किया है – 'सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलजुगहिं दिखायो।' जो एक समय गोपियों ने कर दिखाया था, वही मीरा ने कर दिखाया। कहा जा सकता है कि श्री कृष्ण ही ऐसे आराध्य हैं और उन्हीं का लीला-लोक ऐसा है कि वहाँ एक स्त्री भी उसी मार्ग पर चल सकती है, जिसके ऊपर पुरुष चलता रहा है। कृष्ण के भक्तिपथ की यह विशेषता है कि उसके ऊपर चलकर एक सीमा तक सामन्ती रिश्तों को बदला एवं तोड़ा जा सकता है। भक्ति

के इस माधुर्य पथ पर चलने की स्थिति में मीरा को अपना समर्थक वर्ग भी अवश्य मिला होगा, ऐसा अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

12.2.2 मीरा का विवाह और मेवाड़ की नई भावभूमि

जैसा कि कहा जा चुका है कि तेरह वर्ष की अबोध अवस्था में ही मीरा का विवाह चित्तौड़ के शासक राणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ कर दिया गया था। कहा जाता है कि मीरा ने अपने विवाह का विरोध किया था क्योंकि वह तो अपने बचपन से ही गिरधर गोपाल को अपना पति मान चुकी थी। उन्होंने स्वयं एक पद में कहा है –

माई हूं सपना में परणी गोपाल
मत करो म्हारी ब्याव सगाई क्यों बाँधो जंजाल।

फिर भी माता-पिता की इच्छा का मान रखते हुए मीरा ने विवाह को स्वीकार कर लिया था। यह तथ्य सर्वविदित है कि मीरा के पति भोजराज का देहावसान उनकी युवावस्था में ही हो गया था। उस समय उनके श्वसुर राणा सांगा जीवित थे। भोजराज की मृत्यु के बाद मीरा ने सती होने से इंकार कर दिया था, जो तत्कालीन राजसी परम्परा की दृष्टि से एक विद्रोही कदम है। मीरा ने इस संबंध में भी स्पष्ट कह दिया था कि वह सती नहीं होगी। वह तो श्रीकृष्ण के लिए इस संसार में आई है। एक पद में वे कहती हैं –

भजन करस्यां सती न होस्यां
मन मोह्यो घण नामी।

मीरा के जीवन की परिस्थितियों को देखने से पता चलता है कि अपने परिजनों की मृत्यु की त्रासदी को उन्होंने लगातार भोगा। विवाह के लगभग पाँच वर्ष के भीतर पति का निधन हो गया। मेवाड़ के शासक राणा की यातनाओं से तंग आकर वह चित्तौड़ को छोड़कर अपने पीहर मेड़ता आ गई। महाराणा सांगा और बाबर के बीच खानवा के मैदान में 1527 ई. में हुए युद्ध में मीरा के पिता रतनसी व मेड़ता के राव वीरमदेव तथा उसके अनुज रायमल ने भी अपनी सेना सहित भाग लिया था, जिसमें रायमल और रतनसी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे। राव वीरमदेव घायल तो हुए, किन्तु बच गए। इस तरह हम देखते हैं कि मीरा को इस तरह की त्रासदियों के बीच से लगातार गुजरना पड़ा। जब मेवाड़ का शासक विक्रमाजीत बना, तो उसने मीरा को अनेक तरह की यातनाएँ दी। वह बड़ा ही विलासी क्रूर चरित्र वाला व्यक्ति था। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि ऐसा भी सुनने में आता है कि मीरा, विवाह के पश्चात चित्तौड़ में पहली बार आईं तो सास द्वारा उनसे कुलदेवी पूजन का आग्रह किया गया, किन्तु इस आग्रह को अस्वीकार करते हुए वे श्रीकृष्ण के प्रति एकनिष्ठ भाव पर अडिग रहीं। मेवाड़ का नया परिवेश भी उनको अपनी भावभूमि से विचलित नहीं कर पाया। यही वजह रही होगी कि मीरा के पदों में व्यक्त उन स्थितियों से मीरा को गुजरना पड़ा जो मीरा की वेदना और विद्रोह के लिए जिम्मेदार रही हैं।

12.2.3 मीरा का वैधव्य और स्त्री-जीवन की व्यथाएँ

मध्यकालीन स्त्री के लिए वैधव्य जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप और त्रासदी का कारण होता है। इसमें भी सामन्त कालीन परिवेश और शासक वर्ग की अहम्मन्यताएँ, जिनमें स्त्री को माध्यम बनाकर सामन्ती प्रतिष्ठा के सिद्धान्त गढ़े गए और उनकी पहली बलि स्त्री को बनाया गया। इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि समाज में स्त्री के प्रति इस तरह की संकीर्ण, रूढ़िबद्ध व पुरुषवर्चस्ववादी धारणाओं का शिकार उसे विगत हजारों सालों से होना पड़ा है और आज तक भी इनसे उसकी पूर्ण मुक्ति नहीं हो पाई है। हमारा कृषि-

उत्पादन से जुड़ा समाज आज भी इसी तरह की पुरानी मान्यताओं व रूढ़ संस्कारों से इस तरह बँधा हुआ है कि स्त्री के जीवन संबंधी निर्णय इन्हीं पुरुषवादी धारणाओं के तहत किए जाते रहे हैं। स्त्री और पुरुष के बीच में किए जाने वाले श्रम विभाजन से जो स्थिति बनी, उसे डॉ. रामविलास शर्मा के निम्नांकित विश्लेषण से समझा जा सकता है –

"समाज में जब द्विज और शूद्र का भेद उत्पन्न हुआ, तब उसके साथ स्त्री-पुरुष में छोटे-बड़े का भेद पैदा हुआ। पुराने कबीले टूटने पर नए श्रम-विभाजन के आधार पर जैसे वर्ण-व्यवस्था उत्पन्न होती है, वैसे ही श्रम-विभाजन के आधार पर स्त्री-पुरुष में छोटे-बड़े का भेद उत्पन्न होता है। स्त्री घर का काम करती है, पुरुष बाहर का काम करता है। सम्पत्ति का स्वामी पुरुष होता है, वह युद्ध करता है, शास्त्र रचता है, व्यापार करता है, स्वभावतः उसके काम के आगे स्त्री का घरेलू काम छोटा लगता है।..... सामन्ती व्यवस्था जहाँ ज्यादा पुरानी और मजबूत होगी वहाँ जाति-पांति के भेदभाव की तरह स्त्री और पुरुष में छोटे-बड़े का भेद भी ज्यादा होगा।" केवल भारतीय समाज में ही नहीं, वरन् पूरी दुनिया में स्त्री-पुरुष संबंध इसी तरह के रहे हैं।

मीरा के मामले में यह स्थिति इसलिए ज्यादा विकट व त्रासदीपूर्ण हो जाती है कि वह बहुत जल्दी अपनी युवावस्था में विधवा हो गई। वैधव्य, भारतीय समाज में गाली से भी बड़ा अभिशाप है और फिर इसके साथ जुड़ी अंधविश्वासजन्य धारणाएँ इसे इतना दुखद वीभत्स और भयावह बना देती हैं कि भुक्त भोगी व्यक्ति के लिए सारा भविष्य नारकीय एवं यातनापूर्ण बन जाता है। नारी की स्थिति नारी रूप में वैसे ही यातनापूर्ण है, इसमें भी विधवा नारी की यातनाओं का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। तुलसीदास ने इस मान्यता को अपनी एक चौपाई – "विधवा होई पाइ तरुणाई" में व्यक्त कर दिया है। तुलसी और मीरा का समय लगभग समकालीन था। तुलसीदास लिख रहे थे कि स्त्री यदि अपने अंधे, वृद्ध, जड़, बहरे, क्रोधी व गरीब पति का भी अपमान करती है तो उसे अनेक तरह की नारकीय यातनाओं से गुजरना पड़ता है। यह तो हुई सधवा स्त्री की बात, विधवा की यातना की बात करना तो कल्पना से परे है। इसी को देखकर आधुनिक समाज सुधारकों ने उन्नीसवीं सदी में आकर विधवा-विवाह कराने और उसे सामाजिक स्तर पर मान्यता दिलाने पर बहुत बल दिया। जो प्रावधान पुरुष के लिए उसकी पत्नी का देहावसान हो जाने पर किया जाता रहा है, वही प्रावधान स्त्री के लिए किया जाना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं माना जा सकता। इसके बावजूद आज तक भी राजपूत समाज में विधवा विवाह को अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता।

इससे मीरा के जीवन के कष्टों की कल्पना की जा सकती है। यह तथ्य तो सर्वविदित है ही कि मीरा के पति भोजराज के देहावसान पर वह उसके शव के साथ सती नहीं हुई थी। यह भी तत्कालीन राजपूत समाज की मर्यादा के विपरीत आचरण था।

12.2.4 मीरा का अपना विकल्प : भक्ति का स्वच्छन्द पथ

जो व्यक्ति किसी रूढ़ि, यथास्थिति व व्यवस्था के अमानवीय एवं असंगत पहलुओं के विरुद्ध विद्रोह करता है, वह विद्रोह करने से पूर्व उसके विकल्प व अपने जीवन का आदर्श भी सुनिश्चित कर लेता है। बिना किसी विकल्प व आदर्श के कोई भी विद्रोह अकारथ चला जाता है और विफल हो जाता है। विद्रोह की सार्थकता उसकी रचनात्मकता में होती है। जितना बड़ा उद्देश्य होगा, व्यक्ति के विद्रोह की परिधि भी उतनी बड़ी होगी। इसी से व्यक्ति की वेदना और पीड़ा का संबंध बड़े व महान उद्देश्यों से कायम होता है। मीरा के व्यक्तित्व व भावजगत की यह सबसे बड़ी खूबी है कि उनकी वेदना और विद्रोह का संबंध जीवन के महान उद्देश्यों व आदर्शों से है। उनकी वेदना और विद्रोह का संबंध दुनिया भर की आधी आबादी-स्त्री की दुनिया से है और वह जैसे एक देश की सीमा तक

बँधी नहीं है, वैसे ही उसका प्रभाव उनके समय से लगाकर आज तक देखा जा सकता है और वह तब तक रहेगा, जब तक कि संसार की आधी आबादी-स्त्री को, पुरुष के बराबर उसका हक नहीं मिल जाता। मीरा के कृतित्व का प्रभाव सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक स्तर का है। इसी से वह अपने देश और प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण कर पूरी दुनिया की हो जाती है। उसका प्रभाव कालजयी हो जाता है।

धर्म की रसात्मक अनुभूति के रूप में भक्ति का जो एक तंत्र व स्वरूप रूढ़ हुआ, उसके निर्धारण में सामन्तकालीन परिस्थितियों का विशेष प्रभाव रहा है। यही वजह रही कि भक्ति-तंत्र में जो स्थान पुरुष ने स्वयं के लिए रखा, वह स्त्री को नहीं दिया। उसके चलते स्त्री अपना कोई स्वतंत्र-पथ निर्मित नहीं कर सकी। उसने जब भी किसी स्वतंत्र मार्ग पर चलने का प्रयास किया, सामन्ती मानसिकता वाले समाज में अवरोध पैदा करने के प्रयास किए गए। मीरा ने जो कुछ भी अर्जित किया, वह विद्रोह करके अर्जित किया। हमें मालूम है कि अधिकांश भक्त कवियों ने स्त्री को भक्ति-मार्ग में बाधक मानते हुए कंचन व कामिनी के त्याग को बराबर रखा है। मीरा ने इस तरह की धारणाओं का प्रतिकार किया और स्वेच्छापूर्वक एक ऐसे विकल्प का वरण किया, जो अन्ततः पूरे समाज को मान्य हुआ।

मीरा ने कभी अपनी पीड़ा का हृदयविदारक उल्लेख नहीं किया और किसी तरह का रुदन व विलाप भी नहीं किया। उनको दी गई यातनाओं के प्रति उनका कोई प्रतिकार भी दिखाई नहीं देता। महात्मा गाँधी के शब्दों में वे भारत की पहली सत्याग्रही हैं। उनका प्रतिकार और प्रतिरोध इसी बात में है कि वे अपने संकल्प पर दृढ़ हैं। कोई भी यातनापरक उपाय उनको अपने रास्ते से डिगा नहीं सका है। उसके चारों तरफ रहने वाला सामन्ती मानसिकता वाला समाज उसे पागल बतलाता है। उसको राजा-रानी और परिजन सभी बरजते हैं कि वह अपने स्वच्छन्द भक्ति-पथ को छोड़ दे। वह साधुओं के बीच में बैठना छोड़कर एक स्त्री के लिए निर्धारित राजसी मर्यादा का पालन करे। वह बड़े घर की बेटी व रानी है, उनको ताली दे–देकर नृत्य करना शोभा नहीं देता। इससे उनके राजकुल को दाग लगता है। लेकिन मीरा किसी की बात पर ध्यान नहीं देतीं। वे जानती हैं कि इस तरह की बातें करने वाले लोग लीक पर चलने वाले हैं। वे स्पष्ट करती हैं कि जिस मार्ग पर वे चल रही हैं, उसके ऊपर केवल पुरुष का एकाधिकार नहीं है। साधु-संतों की संगति करने में और भावविभोर होकर अपने आराध्य के समक्ष नृत्य करने में उनको कुछ भी अनुचित व गैर-कुलीन नहीं प्रतीत होता। एक लोकगीत परक पद में उनको ऐसा न करने के लिए ज्योतिषी मनाता है कि वे पत्रों की मर्यादा की रक्षा करें और हरिनाम की भक्ति करना छोड़ दें। इसी पद में मीरा को उनके पिता, भाई, माता, राणाजी आदि सभी मनाने का प्रयास करते हैं कि वे हरिनाम की भक्ति करना छोड़कर राजमहलों में जाएँ, किन्तु मीरा सभी के आग्रह को ठुकराती हुई अपने संकल्प पर दृढ़ रहती हैं कि मेरे प्राण की रक्षा करने वाले दीनानाथ हैं। मेरा मन वैरागी हो गया है अतः हरिनाम की भक्ति को नहीं छोड़ा जा सकता। इस तरह उन्होंने अपने संकल्प के लिए सब कुछ त्यागकर भक्ति के उस पथ का वरण किया, जो उनको उस पर चलने की स्वच्छन्दता प्रदान करता था। कृष्ण के प्रति उनके माधुर्यभाव का एक कारण तो उनके घर-परिवार के संस्कार हैं, दूसरा बड़ा कारण यह है कि श्रीकृष्ण का भक्तिमार्ग ही ऐसा है, जो अपने स्वरूप में स्त्री-समर्थक है तथा सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध स्वच्छन्दता को प्रोत्साहित करने वाला है। जो लोग मीरा के माधुर्यभाव को देखकर स्वयं को लज्जित हुआ मानते थे, वे कहते थे–

एक कुल लाजै मीरां आपणौं, दूजो बंस राठौड़
तीजो लाजै जी मीरां मेडतो, चौथौ गढ़ चित्तौड़,
भक्ति छोड़ो जी हरिनाम की।

इस तरह की सामन्ती मानसिकता सामान्यतया पूरे समाज की रही है कि एक स्त्री का साधु-संतों के बीच बैठकर और नाच-नाच कर माधुर्यभाव से भक्ति करने से उसका कुल, गोत्र, स्थान आदि सभी लज्जित होते हैं। आज भी इस मानसिकता का असर भारतीय समाज पर है, जिसमें पुरुष की स्वच्छन्दता स्वीकार्य है, स्त्री की नहीं। इसका उत्तर मीरा इन शब्दों में देती हैं–

एक कुल त्यारां राणां आपणों, दूजो बंस राठौड़,
तीजो त्यारां जी राणां मेड़तो, चौथो गढ़ चित्तौड़
भक्ति करां जी भगवान की।
मों मन लाग्यो वैराग से, रमस्यां साधां री लार, संता री लार,
भक्ति न छूटै हरिनाम की।

मीरा की वेदना और विद्रोह में उनको सबसे बड़ा सहारा अपने इसी भावलोक का है। उनके मार्धुयभाव ने, उनको इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है। दूसरे, जिस समय और परिवेश में उनका जीवन गुजरा, उसमें भी मानवीय दृष्टि से, मीरा का उदात्त मन संलग्नता का अनुभव नहीं कर पाता होगा। एक उदात्त और उदारमना व्यक्ति के लिए, जोड़ तोड़ वाले कपटपूर्ण राजसी परिवेश में मन रमाने के लिए ज्यादा कुछ नहीं होता। इस वजह से राजसी वैभव का आकर्षण भी मीरा को बाँध नहीं सका। उसकी रचनात्मकता को व्यक्त होने के लिए सबसे खुली जगह, भाव का यही परिसर था, जो भक्ति के माध्यम से व्यक्त होकर सामाजिक स्वीकृति पा सका। इस मार्ग में भी कम अवरोध व बाधाएँ नहीं थीं। अपने साध्य को पाने के लिए, साधना-पथ भी बहुत ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़, कंटकाकीर्ण व अनेक तरह की प्राकृतिक एवं भौतिक आपदाओं से घिरा होता है। हमारा समाज इस तरह के रास्ते पर चलने के लिए एक स्त्री को कोई छूट नहीं देता। अपनी इस वेदना को मीरा ने एक रूपक में अत्यन्त प्रभावी एवं कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है–

गली तो चारों बंद हुई, मैं हरि से मिलूं कैसे जाय।
ऊँची-नीची राह रपटणी, पाँव नहीं ठहराय।
सोच-सोच पग धरुँ जतन से बार-बार डिग जाय।।
ऊँचा नीचा महल पिया का, हमसे चढ्या न जाय।
पिया दूर पंथ म्हारा झीणां, सुरत झकोला खाय।।
कोस-कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड-पैंड बटमार।
हे विधना कैसी रच दीन्ही, दूर बस्यौ घरबार।।
जुगन जुगन से बिछड़ी मीरां, घर लीन्हा मैं पाय।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, सतगुर दिया बताय।।

यहाँ देखने की बात यह है कि मीरा के मन में अपने लक्ष्य को पा लेने के प्रति दृढ़ विश्वास है। जिस रास्ते पर वे चल रही हैं, वही उनका लक्ष्य भी है। यह रास्ता ही ऐसा है कि इस पर चलते हुए मंजिल को पा लेने जैसा आह्लाद भाव मन में आता रहता है। इस भाव की उदात्तता व उच्चता ही इसकी असली मंजिल है, जिसे भक्तिमार्ग के सच्चे अनुयायी इस मार्ग पर चलते हुए महसूस कर लेते हैं। मीरा की सहज व सच्ची भक्ति से व्यावसायिक भक्ति करने वाले कपटी भक्तों की भक्ति से कोई तुलना नहीं की जा सकती, जो बहुत कुछ पाने और मनौती पूर्ण होने के लिए की जाती है। यह भक्ति न होकर एक तरह की भक्ति-व्यवसाय है, जो आजकल 'भक्ति' के नाम पर चारों ओर देखने में आता है। इसमें न वेदना है न विद्रोह। मीरा की भक्ति का पंथ निराला है, वहाँ वेदना और विद्रोह है, जिसमें भक्त को कुछ पाना तो दूर वरन् अपना

सर्वस्व लुटाना पड़ता है। इसी पथ पर चलकर व्यक्ति अनेक तरह के बंधनों, रूढ़ियों व अंधविश्वासों से मुक्त होकर एक सहज मनुष्य बन सकता है। वह अपने ऊपर लदे कृत्रिम आवरणों को त्यागकर व्यक्ति से मनुष्य बन सकता है। वह अपने व्यक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण कर, व्यक्तित्व की ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकता है। मीरा के भक्ति -मार्ग की प्रमुख सीख है कि यहाँ अमानवीय बंधनों को तोड़ते हुए अपने लिए मार्ग का स्वयं निर्माण करना पड़ता है। किसी का अनुगामी होने मात्र से वह प्राप्त नहीं होता। उल्लेखनीय है कि मीरा ने अपने समय में किसी भक्ति-सम्प्रदाय की दीक्षा लेकर उसकी शिष्या होना स्वीकार नहीं किया था। इससे उनके स्वच्छन्द भावयोग में बाधा पहुँचती थी।

12.3 मीरा की उदात्तता व आदर्श

महान्ता की सबसे प्रमुख कसौटी है उसकी उदात्तता, आदर्श व उनके अनुरूप आचरण। जीवन व साहित्य-सृजन दोनों के लिए एक ही कसौटी है–आदर्शों की महत्ता एवं व्यक्तित्व की उदात्तता। इनके अभाव में व्यक्ति, अपनी लघुता से बाहर नहीं आ पाता। इस काम में उसे अपने समय व व्यवस्था द्वारा निर्धारित आदर्शों व मानदण्डों का विरोध भी करना पड़ता है। बँधी-बँधाई लीकों का उल्लंघन करना पड़ता है और यथास्थितिवादी एवं व्यवस्था पोषक ताकतों का कोपभाजन भी बनना पड़ता है। लेकिन, जो समय की परीक्षा में सफल होता है, दुनिया के लिए वही मार्गदर्शक का काम करता है।

12.3.1 महत् का वरण : सामान्य जन के लक्ष्य से भिन्न

असाधारणता की सार्थकता तभी है, जबकि वह साधारणता के काम की होती है। जो असाधारणता व्यक्ति की सीमाओं तक रह जाती है, उसका ऐतिहासिक महत्व भले ही हो, लेकिन वह न देश के लिए काम की होती है न काल के लिए। इसलिए महानताओं का संबंध देशकाल से होता है और वह देशकाल सम्बद्ध होकर भी देशतीत एवं कालातीत होती है। मीरा का व्यक्तिगत जीवन एवं सृजन दोनों ही महत् के वरण से संचालित हैं। वे अपने समय की लीक से हट कर, अपना रास्ता अलग से बनाती हैं, जिसके ऊपर सामान्यजन नहीं चल पाते। इसलिए वे लोकलाज की परवाह नहीं करतीं। जो व्यक्ति अपने भीतर महत् का वरण कर लेता है, वह लोकलाज के भय से नहीं डरता। वह जानता है कि उसके समय के लोकलाज के मानदण्ड, एक तरह की यथास्थितिवादी व्यवस्था के तहत निर्मित होते हैं, जो सम्पूर्ण समाज के लिए समता व स्वाधीनता की धारणा से संचालित नहीं होते। मीरा के काव्य में लोकलाज और कुल की मर्यादा को छोड़ देने व उसकी परवाह न करने का जिक्र बार-बार इसीलिए हुआ है कि एक स्त्री की पराधीनता के लिए ये ही सबसे ज्यादा जिम्मेदार होती हैं। लोकलाज और कुल की मर्यादा के मानदण्ड, पुरुषवर्चस्व की और उसकी सहूलियत के लिए बनाए गए हैं, जो स्त्री के व्यक्तित्व को अनेक तरह के अमानवीय बंधनों में बाँधते हैं। उन्होंने कहा है – "लोकलाज कुल काणिहु तजि कै, निरभै निसाँण घुरास्याँ।" एक महान आदर्श से सम्बद्ध होकर ही उनमें इतनी निडरता आई है कि वे लोकलाज की चिन्ता नहीं करती – "हरिजी सों प्रीति राखि, लोकलाज पटकी।" लोकलाज को पटक देने में उनको हरिजी से प्रीति करने का बल प्राप्त है।

मीरा के जीवन का उद्देश्य सामान्य जन के उद्देश्य से भिन्न है। इस बात को वे अच्छी

तरह जानती हैं। यह उनका दंभ व अहंकार नहीं है कि वे लोकलाज की चिन्ता नहीं करतीं वरन् उनके जीवन का ज्ञान, भाव एवं कर्मयोग है, जो उनको सामान्यजन के बँधे-बँधाए मार्ग से अलग करता है और अत्यन्त निडर बना देता है। महान आदर्शों को स्वीकार करके ही व्यक्ति में निडरता आती है। लघुता से कभी निडरता नहीं आ सकती। तभी वे कहती हैं – "राणा रूस्याँ भय मोरे नाहीं, चित साहब से लागा। मीरा बाई तो शरणे आया, लोकलाज भय त्यागा।" मीरा जब साधु-संतों के दर्शन करने को जाती हैं, तो उनकी माँ उनको ऐसा करने से रोकती हैं। वह कहती हैं कि बेटी, यह संसार तो सुख की नींद सो रहा है और तू है कि रातभर किसी भ्रम में भूली रहती है अर्थात सुख की नींद भी सो नहीं पाती। मीरा ने अपने एक पद में संवाद के रूप में कहा है–

माई कहे सुन धीहड़ी, काहे गुण फूली।
लोक सौवे सुख नींदड़ी, तू क्यूं रैणज भूली।।

इस बात पर मीरा उत्तर देती है –

गैली दुनिया बाबलीं, ज्यां कूँ राम भावै।
ज्याँ रे हिरदय हरि बसै, त्याँ कूँ नींद न आवै।।

मीरा का कोई पद ही होगा, जो उनकी भीतर की वेदना को उजागर न करता हो। उनका पूरा काव्य वेदना की अभिव्यक्ति है, लेकिन वह केवल वेदना तक सीमित रहने वाला काव्य नहीं है। उसका पर्यवसान विद्रोह एवं उस रचनाशीलता में होता है, जो मनुष्य-जीवन को मनुष्यता के भावों से समृद्ध करती हुई उसे भविष्य की अर्थवत्ता प्रदान करती है।

12.3.2 समता-स्वाधीनता के अनजाने पहलू

समता और स्वाधीनता की धारणाएँ व स्थितियाँ यद्यपि आधुनिक युग की देन हैं तथापि इनके लिए भौतिक एवं मानसिक स्तर पर, हर युग में प्रयत्न किए जाते रहे हैं। प्राचीन व मध्यकाल के सामन्ती व्यवस्था वाले समाज में भी सत्ता-संघर्षों के बीच ऐसे अनेक संघर्ष चलते रहते थे, जो जाने-अनजाने व्यक्ति एवं सामाजिक स्तरों पर समता और स्वाधीनता की स्थितियाँ निर्मित करते थे। राज्य सत्ताओं में भी कभी-कभी बड़े-बड़े उलट-फेर इसके चलते हो जाया करते थे और एक समय के गुलाम एवं प्रतिहार रहे लोग भी दूसरे समयों में शासक वर्ग में शामिल हो जाते थे। यह अलग बात है कि राज्य और समाज के स्तरों पर व्यवस्था सरीखे बुनियादी परिवर्तन इतने भर से नहीं हो पाते। इस तथ्य से अब सभी परिचित हैं कि हमारे देश के विभिन्न अंचलों में भक्ति -आंदोलन के तहत जो सांस्कृतिक एवं वैचारिक आन्दोलन कई शताब्दियों तक चला, उसकी पृष्ठभूमि और प्रेरणा के रूप में, वर्ण-व्यवस्था की रूढ़ एवं अमानवीय जकड़बंदी तथा नारी की पराधीन स्थितियों को बदलते हुए, भक्ति के क्षेत्र में अपेक्षाकृत एक समता एवं स्वाधीनतापूर्ण दुनिया को जगह देना भी था। ऐसा कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य यहाँ भले ही नज़र न आता हो किन्तु भक्ति-आंदोलन का वैचारिक संघर्ष परोक्षतः समता व स्वाधीनता के लिए रहा है। यह बात तो अब सर्वमान्य हो चुकी है कि भक्ति-काव्य, सामन्तवाद के विरुद्ध लोकपक्ष से लिखा गया काव्य है। उसकी धारणाओं व मंतव्यों के पीछे लोक की ताकत है।

मीरा, कृष्णभक्ति में तल्लीन होकर जब अपना स्वच्छन्द रूप दिखलाती हैं तो सामन्ती व्यवस्था के पोषकों की इससे नाराजगी होना स्वाभाविक है। सामंती संस्कारों में रचा-बसा व्यक्ति, कभी पुरुष के समान, स्त्री के इस तरह के स्वच्छन्द रूप को स्वीकार नहीं करेगा, जो मीरा एक भक्तिन के रूप में दर्शाती हैं। इसलिए मीरा की वेदना का प्रमुख कारण कदाचित यही रहा कि भक्ति के अंतर्गत प्राणिमात्र को बराबरी का हक होने के बावजूद

उनको उसके लिए प्रताड़ित किया गया। यह प्रश्न उठना उन लोगों के लिए स्वाभाविक होता है, जो अपने जीवन-व्यवहार में एक विचारशील प्राणी की तरह व्यवहार करते हैं। मीरा स्वयं एक स्त्री है, इसलिए अपनी स्थिति के विषय में सोचकर वे ऐसा निर्णय लेती हैं, जो उनको अपने परिजनों व तत्कालीन समाज के बीच विद्रोही बना देता है। उन्होंने अपने जमाने में यह अनुभव किया होगा कि वर्ण-व्यवस्था और जाति-बिरादरी के स्तर पर स्थापित क्रूर एवं विषमताकारी बन्धनों को भक्तगण लगातार तोड़ते आ रहे हैं। निर्गुण संत-भक्ति परम्परा का एक उदाहरण उनके सामने रहा है। विद्रोह की एक बड़ी परम्परा जहाँ पहले से मौजूद है। मीरा के लिए यह भी बड़ा अवलम्बन बनी होगी। तभी मीरा के साथ उनके गुरु के रूप में रैदास का नाम जुड़ा है। यदि यह प्रामाणिक है तो इसे मीरा का दूसरा विद्रोह रूप कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मीरा का परिवेश मध्यकालीन होते हुए भी व्यक्तित्व एवं कृतित्व उसे एक ऐसा आधुनिक आयाम प्रदान करता है, जो उनके विद्रोह और वेदना को स्त्री-मात्र के लिए हासिल की जाने वाली स्वाधीनता व समता का एक आरंभिक सोपान बना देता है।

12.4 मीरा का विद्रोह और वेदना

यह तो स्पष्ट है कि मीरा एक विद्रोहिणी कवयित्री थी और इसका प्रमुख कारण उनके जीवन की यह वेदना है, जो एक मध्यकालीन समाज में स्त्री-पुरुष की गैर-बराबरी के चलते उनको मिली। इस पीड़ा की शिकार तो यद्यपि हर स्त्री रहती आई है लेकिन मीरा ने इसके प्रति विद्रोह किया तो वे "मीरा" बनीं। मीरा का काव्य स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उनके द्वारा किए गए स्वाधीन आचरण के लिए उनको बार-बार प्रताड़ित किया गया, किन्तु प्रताड़ना के भय से वे अपने रास्ते से विचलित नहीं हुईं। मीरा ने अपने पदों में इन दोनों बोतों का अनेकशः उल्लेख किया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी वेदना की गहराई और व्यापकता कितनी अधिक थी। वे स्वयं कहती हैं कि लाज-शर्म और कुल की मर्यादा के भार को उन्होंने अपने सिर से उतार फेंका है और मान-अपमान दोनों को दूर पटक दिया है। राणा से वे सीधे-सीधे कहती हैं कि तुम अपने घर जाओ, मेरी और तुम्हारी बनने वाली नहीं है।

12.4.1 विद्रोह एवं वेदना का निजी स्तर

मीरा की वेदना और उनकी परिस्थितियों से यह साफ है कि यह उनके अपने निर्णय की वजह से है। उनका अपना निर्णय है कि वे दुनिया के प्रचलित मार्ग पर न चलकर अपने सोचे-समझे और स्वाधीन मार्ग पर चलने का संकल्प लेती हैं और उसके ऊपर दृढ़तापूर्वक चलती हैं। वे इस बात को जानती हैं कि वे ज्ञान की गली में चल रही हैं। इस गली में उनकी एक ऊँची अटारी है, जिसमें लाल रंग की खिड़की लगी हुई है और जिसके भीतर निर्गुण सेज बिछी हुई है। जहाँ पचरंगी झालरें सुशोभित हो रही हैं और वह फूलों से सजी हुई है। एक सौभाग्यवती वधू का शृंगार उन्होंने किया है, आभूषणों में बाजूबंद और कड़ूला उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे हैं। मांग में सिन्दूर भरा है। मीरा यहाँ एक सुखमणि शय्या पर सो रही हैं। यह मीरा का अपना रास्ता है, जिसके ऊपर चलने से उसे कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने अपने एक पद में कहा है –

तेरा कोई नहिं रोकणहार, मगन होय मीरा चली।
लाज सरम कुल की मर्यादा, सिर से दूर करी।
मान-अपमान दोउ धर पटके, निकली हूँ ज्ञान गली।।

मीरा के अनेक पदों में एक ऐसा पद भी मिलता है जो उनकी ननद, ऊदां व मीरा के संवाद के रूप में हैं। इससे भी यही पता चलता है कि मीरा अपने निर्णय व संकल्प

के प्रति कितनी दृढ़ थी। कोई भय व बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उनको अपने पथ से डिगा नहीं सका। ऊदांबाई उनको कहते–कहते हार गई कि जो वे कर रहीं हैं, उससे उनके कुल को दाग लगता है और लोक में निन्दा होती है। उनको साधुओं के साथ भटकना शोभा नहीं देता। इस तरह का काम, कोई स्त्री लाज-शर्म उतारकर ही कर सकती है। वह यहाँ तक मीरा को याद दिलाती हैं कि उनका जन्म एक बड़े राजकुल में हुआ है और तुम हो कि ताली पटका-पटका कर नाच रही हो। तुमको हिन्दू धर्म का सूर्यवंशी पति मिला है, फिर ये तुमने अपने मन में क्या धार ली है कि सारी मान-मर्यादा को त्यागकर जगह-जगह घूमती एवं नाचती फिरती हो। इन बातों का उत्तर देती हुई मीरा कहती हैं कि मेरी बात कोई गुप्त व रहस्य की बात नहीं है। वह पूरी तरह जग-जाहिर है। अब तो मेरे माता-पिता, कुल, सजन, सनेही जो कुछ हैं वे सब साधु-संत ही हैं। मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैं अब संतों के चरण की शरण में ही रात-दिन रहना चाहती हूँ। अतः राणा को जाकर समझाओ कि मीरा उनकी बात मानने को तैयार नहीं है। उस मीरा के स्वामी गिरधरनागर श्रीकृष्ण हैं और वह संतों के हाथ बिक चुकी है –

राणा नै समझावो जावो, मैं तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, सन्तां हाथ बिकानी।।

इस तरह हम देखते हैं कि मीरा का विद्रोह उनके निजी जीवन की परिस्थितियों की देन है, लेकिन वही विद्रोह जब साहित्य रचना में बदल जाता है तो उसका स्वरूप सार्वजनिक एवं सामाजिक हो जाता है।

12.4.2 विद्रोह का सामाजिक प्रभाव : रूढ़ि-विरोध

समाज के जो लोग व्यवस्था-पोषक एवं यथास्थितिवादी होते हैं, वे मीरा सरीखी कवयित्री के विद्रोह एवं रूढ़ि-विरोध को कभी रेखांकित नहीं करते। वे उनको एक महान भक्त कवयित्री होने तक स्वीकार करते हैं, लेकिन मीरा की भक्ति के साथ, जो उनकी वेदना एवं विद्रोह जुड़े हुए हैं वह मीरा के भक्ति-पथ की सार्थकता में यहाँ तक वृद्धि कर देते हैं कि इस रूप में वे आधुनिक युग की लगने लगती हैं। उनका महत्व इस बात में ज्यादा है कि वे भक्ति को साध्य बनाकर, स्त्री की दृष्टि से एक बँधे हुए बंद समाज में एक नया रास्ता बनाती हैं। राजकुल से सम्बद्ध एक स्त्री के लिए आज भी ऐसा कर पाना मुश्किल है। मीरा का यह मार्ग हमको बतलाता है कि बिना रूढ़ियों को तोड़े कोई लोकहितकारी कार्य नहीं किया जा सकता। मीरा, लोकलाज कुल की मर्यादा की परवाह न करते हुए स्त्री-मात्र के लिए एक नया रास्ता दिखलाती हैं। यद्यपि कहीं भी उन्होंने इस तरह का संकेत नहीं किया है कि वे अपने समय की सामाजिक व्यवस्था को एक नयी दिशा देने जा रही हैं तथापि उनके कृतित्व से यह व्यंजित होता है कि स्त्री की स्वाधीनता का एक रास्ता यह भी है। लेकिन इस रास्ते पर वे लोग ही चल सकते हैं, जो अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार हों। जो भाव-भक्ति को अपना आभूषण और शील-संतोष को शृंगार मानते हों। जो किसी भी तरह के प्रलोभन में फँसने को तैयार न हों। जैसे मीरा अपनी ननद से कहती हैं –

भावभगत भूषण सजे, सील संतोष सिंगार।
ओढी चूनर प्रेम की, गिरधर जी भरतार।।
ऊदांबाई मन समझ, जावो अपने धाम।
राजपाट भोगो तुम्हीं, हमें न तासूं काम।।

12.4.3 भक्ति का विद्रोही स्वरूप

प्रश्न उठता है कि मीरा के मन में विद्रोह की आकांक्षा उत्पन्न करने वाला प्रमुख कारक कौन सा है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भक्तिभाव ही है, जो उनको विद्रोह का रास्ता दिखलाता है। भक्ति का मार्ग ही कबीर को विद्रोही बनाता है। सूर-तुलसी के काव्य में भी विद्रोह की झलक है किन्तु वह कबीर व मीरा की भाँति उनके निजी जीवन की परिस्थितियों से प्रकट नहीं होता। इसके बावजूद सूर के काव्य में गोपियों के माध्यम से स्त्री की विद्रोही छवि ही अंकित हुई है, जहाँ ज्ञान का पुरुष दंभ चकनाचूर हो जाता है। तुलसी का विद्रोही रूप तत्कालीन पांडित्य के आभिजात्य से टक्कर लेने में व्यक्त होता है, जबकि वे संस्कृत भाषा के वर्चस्व से संघर्ष करते हुए लोकभाषा को अपनाते हैं। राजतंत्र की निरंकुशता के समक्ष वे रामराज्य के रूप में एक सर्वजनसुलभ राजतंत्र के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं और अपनी रचना में से सीता-निर्वासन एवं शम्बूक-वध की घटना को हटा देते हैं। तुलसी ने यह सजगतापूर्वक अपने युग की नब्ज को पहचानते हुए किया है। भक्ति संसार एक निराला एवं अनूठा संसार इस अर्थ में है कि वहाँ सभी के बीच में समता का अलोक सबसे ज्यादा विकीर्ण हुआ है। तुलसी ने रामराज्य का एक सूत्र यह भी माना कि वहाँ विषमता नहीं है 'राम प्रताप बिसमता खोई।' यह समत्व भावना का ही प्रकाश है कि मीरा इतनी निडर हो जाती हैं कि राजसत्ता के आतंक की वे कोई परवाह नहीं करतीं। लोकलाज का भय उनको नहीं रहता। पुरुष-वर्चस्व के बंधनों की उन्हें कोई चिन्ता नहीं। किसी के समझाने-बुझाने का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। उनका विद्रोह, उनकी निडरता, उनका संकल्प और उनकी सच्ची भक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण उनका यह अत्यन्त लोकप्रचलित पद है–

पगे घुँघरु बाँध मीरां नाची रे।
मैं सपने तो नारायण की , हो गई आप ही दासी रे।
विष का प्याला राणाजी ने भेज्या, पीवत मीरां हांसी रे।।
लोक कहे मीरां भई बाबरी, बाप कहे कुलनासी रे।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, हरिचरणां री दासी रे।।

12.4.4 युगीन साम्प्रदायिक आग्रहों का अस्वीकार

भक्ति के विकल्प के रूप में मीरा अपने स्त्रीत्व की स्वाधीनता के लिए एक नया अवसर देख रही थी। यही एकमात्र विकल्प था, जहाँ वे अपनी आंतरिक सत्ता का लोहा मनवा सकती थीं। भक्ति क्षेत्र में आकर वे पुरुष-वर्चस्व को तोड़ सकती थीं। कदाचित इसके आलावा उनके सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था, जहाँ वे सामन्ती रूढ़ियों की पोषक राजसत्ता व पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध एक 'अबला' की आवाज को इतनी प्रबलता, प्रखरता व तार्किकता से रख सकें। इस दृष्टि से जब मीरा के काव्य का अध्ययन करते हैं, तो वे उस युग के महान कवियों की पाँत में आ जाती हैं। अनुभूति की ऐसी सच्चाई और प्रामाणिकता विरल है, जिसमें केवल काव्य ही नहीं, जीवन का संघर्ष भी विद्यमान है। उनका यह संघर्ष केवल पारिवारिक संघर्ष तक सीमित नहीं है वरन् उस पूरी पुरुष सत्ता से है, जो साधु-संतों के बीच भी अपना प्रभुत्व रखती है। साधु-संतों ने भी स्त्री-सत्ता का कम विरोध नहीं किया है। यही वजह रही कि भक्ति के भावपरक दार्शनिक स्वरूपों के विकास में स्त्री का पक्ष सामने आया। वह स्वतंत्र रूप से प्रभावित है। शायद यही वजह रही होगी कि मीरा ने अपने युग के सम्प्रदायबद्ध सांस्थानिक आग्रहों को स्वीकार नहीं किया। जब उन्होंने महाप्रभु वल्लभ के भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित होने से मना किया तो उनको गालियाँ देते हुए दारी व राँड तक कहा गया। वल्लभ सम्प्रदाय की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता में इसका उल्लेख मिलता है। एक जनश्रुति यह भी प्रचलित है कि वृन्दावन में चैतन्य भक्ति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य जीव गोस्वामी ने भी उनसे इस वजह

से मिलने से इन्कार कर दिया कि वे एक स्त्री हैं और वे अपनी ब्रह्मचर्य-साधना की वजह से स्त्रियों से नहीं मिलते। कहते हैं कि जब मीरा ने उनको कहलवाया कि वे तो समझती थीं कि ब्रज में एक ही पुरुष हैं श्रीकृष्ण। बाकी सब तो गोपीभाव हैं अर्थात् शेष जगत स्त्रीस्वरूप है तो कहते हैं कि जीव गोस्वामी को ज्ञान हुआ और वे उत्कंठा पूर्वक एक नई स्त्री मीरा से मिले। बहरहाल, इन बातों में कितना सच है, यह तो शोध का विषय है किन्तु इनसे इतना अवश्य स्पष्ट है कि एक स्त्री के रूप में, भक्ति साधना में रम जाने के बावजूद, पुरुष-सत्ता से जगह जगह व कदम-कदम पर मीरा को मानसिक प्रताड़नाओं से गुजरते हुए टकराना पड़ा था। इसके बावजूद वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहीं।

मीरा ने अपने समय के किसी भक्ति-संस्थान से स्वयं को सम्बद्ध नहीं किया। वे बचपन से ही श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति-भाव रखती थीं। धीरे-धीरे उसी का विकास वे करती चली गईं, जिसने उनके जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप मार्धुयभाव का रूप ग्रहण कर लिया और उनके संकल्प को इतनी दृढ़ता प्रदान की, कि वे अपने समय की राजसत्ता, पुरुष वर्चस्व व लोकबंधनों से टकराती हुई स्वयं को स्वतंत्र रख सकीं। समय के वे प्रभाव उनके ऊपर स्पष्ट हैं, जो भक्ति के स्वाधीन-पथ पर उनको निर्भीकता से चलाने में सहायक बने हैं। चाहे वह रामानंद का प्रपत्ति भाव हो या चैतन्य की मार्धुयभावना, या सूफ़ी-प्रेमभावना, या निर्गुणों के भक्ति-रूपक-सभी का सारतत्व ग्रहण करते हुए उन्होंने अपना एक स्वाधीन भक्ति-मार्ग बनाया, जो राजकुल की स्त्री होने की वजह से विद्रोही रूप अख्तियार किए बिना संभव नहीं था।

12.5 मीरा की विरह-वेदना

मीरा की वेदना और विद्रोह की मंजिल है उनकी प्रेमाभक्ति। यही विकल्प और एकमात्र रास्ता है, जो मीरा के संकल्प को दृढ़ता व आत्मविश्वास से परिपूर्ण करता है। मीरा के जमाने तक उत्तरभारत में भक्ति का एक पूरा तंत्र निर्मित एवं विकसित हो चुका था, लेकिन मीरा अपनी स्वच्छन्द भावना के चलते उसके किसी शास्त्रीय पचड़े में नहीं पड़ी थीं। उनके पास अपना अनुभव-संसार ही इतना विस्तृत एवं सघन था कि उनको कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं थी। जो कुछ वे व्यक्त कर रही थीं, उसकी कसौटी स्वयं उनके अपने जीवन के दुख-दर्द थे। वे जान गई थीं कि इस संसार में उनके जैसी स्त्रियों के लिए क्रूर बंधनों, यातनाओं, उपेक्षाओं, तानों व तिरस्कारों के अलावा कुछ बचा ही नहीं है। वैधव्य की प्रचलित अपशकुनता का आतंक वे अच्छी तरह जानती थीं, कि किस तरह एक राजपूत विधवा का सारा जीवन अकारथ चला जाता है। समय के अनुसार उनको अवश्य यह अहसास हुआ होगा कि पतिविहीन जीवन को किसी बड़े तथा मूल्यसम्पन्न उद्देश्य से सम्बद्ध कर अर्थवान बनाया जा सकता है। विधवा-जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी होती है अवसाद व नीरसता। जीवन के सारे रस जहाँ निचोड़ व सोख लिए जाते हैं। सरसता, उल्लास व आनंदभावना के लिए जहाँ कोई जगह नहीं होती। अतः वेदनामय जीवन को रसपूर्ण बनाने का एक ही माध्यम हो सकता था कि व्यक्ति के भीतर के प्रेमभाव को प्राणिमात्र तक व्यापक बनाकर उदात्तता की कोटि तक पहुँचा दिया जाए। दूसरे, जहाँ मनुष्यता के उच्चतम स्तर की संभावनाओं को पाया जा सके, वह भाव, प्रेम की उदात्तता के अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता था। प्रेम का अभाव ही मनुष्य-जीवन को व्यर्थ व नीरस करता है, जो मीरा को न तो राजमहलों के जीवन में नज़र आया, न उस देश में, जहाँ साधु-सज्जनों का निवास है। मीरा ने अपने एक पद में कहा है – "न भावै थारो देसडलो (जी) रूड़ो रूड़ो। हरि की भगति करै नहिं कोई, लोग बसै सब कूड़ो।" इसका मतलब यह नहीं है कि उस समय के लोग "हरि की भक्ति" नहीं करते

थे। "भक्ति" तो उस समय भी थी, लेकिन सच्चे भाव की जगह उसका 'तंत्र' ज्यादा मजबूत था। उसके भीतर से प्रेम तत्व की वह उच्चता एवं उदात्तता गायब थी, जो समाज से जाति-बिरादरी, लिंगभेद, कुलीनता व धन-वैभव की विषमताजन्य दीवारों को गिराती हुई व्यक्ति को एक सामान्यभावना वाले मानवीय धरातल पर ले जाती है। जहाँ व्यक्ति, विशुद्ध मनुष्य रह जाता है और उसके सारे आवरण तिरोहित हो जाते हैं। मीरा को यह सत्य, उस प्रेमाभक्ति में मिला था जिसे उसने तत्कालीन भक्तितंत्र से ज्यादा स्वानुभूति से प्राप्त किया था। यही वजह है कि उनका भक्तिपथ अन्य सभी से अलग व निराला है और उसके ऊपर किसी तरह की समकालीन शास्त्रीय रूढ़ियों का दबाव नहीं है।

चूँकि व्यक्ति व समाज दोनों ही मीरा को प्रेमभाव की उदात्तता से रिक्त दिखाई दिए, इसलिए उसको पाने की मंजिल तक पहुँचाने में जो अंतराल रहता है, वह एक सच्चे साधक प्रेमी भक्त को विरही बना देता है। विरह की प्रकृति वेदनापरक होती है। किन्तु इस वेदना के भीतर, प्रेमभाव की उदात्तता का अहसास बराबर बना रहता है। यही वेदना उसके भीतर के रचनाकार को जाग्रत कर उससे सृजन कराती है। मीरा अपने समय के इस सामाजिक यथार्थ से भलीभाँति परिचित थीं कि लोग चोरी करते हैं, जीवों को सताते हैं, और इतने लोभी, स्वार्थी एवं अवसरवादी हैं कि अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए हाथी से उतरकर गधे पर चढ़ने में भी उनको लज्जा नहीं आती। मीरा के मन पर हरिनाम का रंग इसी कारण से चढ़ा है कि यहाँ जिंदगी के वास्तविक आभूषण 'शील' का शृंगार है, जबकि हरिनाम शून्य जीवन में यह नजर नहीं आता। ऐसे एक पद में उन्होंने कहा है–

चोरी करां नहिं जीव सतावां, कांई करैगो म्हांको कोई।
गज सूं उतरि गधे नहिं चढस्यां, या तो बात न होई।।
चूड़ो तिलक दोबड़ो माला, सील बरत सिणगारां।
और बस्त रत नहिं मुहि भावै, यह गुरुग्यान हमारा।।

मीरा इस बात को अच्छी तरह से जानती हैं कि जो वह पाना चाहती हैं, उसको प्राप्त करना आसान नहीं है। कबीर ने कहा 'प्रेम का घर खाला का घर नहीं है। यहाँ तो वही घर में प्रवेश कर सकता है जो अपना शीश उतारकर पृथ्वी पर रख दे।' ऐसी दुर्लभ वस्तु जब तक नहीं मिल पाती, तब तक उसे वियोग दशा में रहना पड़ता है, जिसमें वेदनानुभूति होना स्वाभाविक है। यह एक तरह से सच्चे प्रेमी की परीक्षा की घड़ी है। इस पीड़ा को हर कोई जान भी नहीं सकता। इसे वही जान सकता है, जो इस तरह की पीड़ा से गुजरा है। मीरा कहती हैं–

हे री मैं तो दरद दीवानी, मेरौ दरद न जाणै कोय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय।।
दरद की मारी बन बन डोलूं बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा के प्रभु पीर मिटै जब, बैद सांवलियाँ होय।।

यह मीरा की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण स्त्री एवं वंचित-पीड़ित समाज की त्रासदी रही है कि उसके दर्द कोई नहीं जानता। यदि लोग उसे जानते होते तो समाज में इन वर्गों को भी वही जगह मिलती, जो प्रभुताशाली वर्गों को मिलती रही है। यही वजह रही है कि अपनी त्रासदियों के निवारण हेतु ये सभी समाज को छोड़कर ईश्वर की शरण में गए। समाज के स्तर पर इनकी विषमता व अन्याय की पीड़ा को समझने, जानने व दूर करने वाला कोई नहीं है। समाज तो स्वयं विषमता का पोषक है वह भेदभाव की भावना से ग्रस्त है। इस सत्य को जानकर मीरा कहती हैं कि साँवलिया जैसा वैद्य ही उनकी पीड़ा को मिटा

सकता है। व्यक्ति के ईश्वर की शरण में जाने और भक्ति करने की एक प्रमुख वजह कदाचित यह भी रही है कि यहाँ वह स्वयं को अपने मनोवांछित को साकार करने की स्थिति में पाता है। उसे पहले उसकी याद सताती है और वह अपने राम से ऐसा घनिष्ठ और आत्मीय रिश्ता कायम करती है कि उसके सामने उसे कोई अन्य रिश्ता अच्छा नहीं लगता। उसकी आँखें सदैव उसके दर्शन की प्यासी रहती हैं। यह वियोग दशा अपने आप में अनूठी है, जो उसे प्रभु दर्शन तक ले जाकर आनंदभाव में लीन कर देती है–

मेरे परम सनेही राम की, नित ओलूंडी आवै।
राम हमारे हम हैं राम के, हरि बिन कछु न सुहावै।।
आवन कह्यौ अजहूँ नहि आये, जियड़ौ अति अकुलावै।
तुम दरसण की आस संवरिया, निस दिन चितवत जावै।।
चरण कमल की लगन लगी अति, बिन दरसण दुख पावै।
मीरा कू प्रभु दरसण दीन्हों, आनन्द बरण्यों न जावै।।

इस तरह मीरा की विरह-वेदना उसे संयोग की आनन्दानुभूति तक ले जाती है। यहाँ देखने की बात यह है कि मीरा की वेदना का यह रूप सृजनात्मक है, जो एक व्यक्ति के हृदय में व्याप्त प्रेमानुभूति की उच्चतम दशा तक उसे पहुँचाती है। यहाँ वह समस्त विकारों से मुक्त होकर प्रेम की दुनिया में भावमग्न होकर रहने लगती है। इसी में व्यक्ति के जीवन की सार्थकता है। मीरा के इस प्रेमभाव में भक्तिकाल के अन्य कवियों से ज्यादा गहराई एवं प्रामाणिकता मिलती है। इसकी वे स्वयं भुक्तभोगी हैं। उनकी प्रेमभावना को खुलकर व्यक्त होने के लिए यहीं जगह मिली है। यहीं उन्होंने प्रेम की विरहदशा में व्यक्त अपने भावों को एक-एक कर खोलकर रख दिया है। यहाँ तक कि अपनी उस सांसारिक यातना और प्रतिरोध के बारे में वे अपनी सखी से कहती हैं कि उनसे हरि के बिना रहा ही नहीं जाता। लगता है कि श्रीकृष्ण से उनकी कोई पूर्वजन्म की प्रीति है –

हेली म्हाँसू हरि बिन रह्यौ न जाय।
सासु लड़ै मोरी ननद खिजावै, राणां रह्यौ रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठाइयो, ताला दियौ जुड़ाय।
पूर्वजन्म की प्रीति पुरानी, सो क्यों छोड़ी जाय।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, और न आवै म्हारी दाय।।

12.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीरा की वेदना और विद्रोह की एक भौतिक पृष्ठभूमि रही है, जिसे उनकी स्त्री-दशा और उनके संकल्प ने एक अत्यन्त उदात्त स्वरूप प्रदान किया है। यहाँ जो कुछ सामने आया है, वह इतना प्रामाणिक है कि आज भी उसे पढ़ते हुए आश्चर्य की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती कि एक राजमहिषी विद्रोह की इस सीमा तक जाकर, अपनी वेदना को सृजनात्मक रूप दे सकती है। संसार की प्रताड़नाओं और त्रासदियों से सामान्य लोग अपना रास्ता बदल लेते हैं लेकिन मीरा उनसे घबराती नहीं। उनको जितनी यातनाएँ दी जाती हैं, उतनी ही वे अपने संकल्प पर और दृढ़ हो जाती हैं। इसी से यहाँ प्रेमानुभूति की वह निर्मल सरिता प्रवाहित हुई, जो युग-युगों तक इस संसार के मनोमालिन्य को धोने का काम करती रहेगी। मीरा की विरह-वेदना उसे संयोग के आनन्द की अनुभूति कराती है। उनकी वेदना का यह सृजनात्मक स्वरूप उन्हें प्रेमानुभूति की उच्चतम दशा तक पहुँचाता है।

12.7 अभ्यास प्रश्न

1. मीरा की वेदना और विद्रोह की भौतिक पृष्ठभूमि की विस्तार से विवेचना कीजिए।
2. "मीरा की वेदना और विद्रोह का पर्यवसान भक्ति-भाव में होता है" –इस उक्ति को स्पष्ट कीजिए।
3. मीरा के जीवन की उदात्तता एवं आदर्श पर प्रकाश डालिए।
4. मीरा की वेदना एवं विद्रोह के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
5. मीरा की विरह-वेदना को समझाइए।

इकाई 13 मीरा और लोकमानस

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 लोक' की अवधारणा

13.3 लोकमानस : तात्त्विक विश्लेषण

13.4 लोक-संस्कृति

13.4.1 संस्कृति का शाब्दिक अर्थ

13.4.2 लोक-संस्कृति का विराट स्वरूप एवं उद्देश्य

13.5 लोकमयी-अलोकमयी मीरा

13.6 लोक धरातल पर मीरा की विशिष्ट पहचान

13.7 लोक-शक्ति बनी मीरा की शक्ति

13.8 मीरा काव्य पर लोक-शैली का प्रभाव

13.9 मीरा की काव्य-चेतना और लोक

13.10 मीरा-काव्य में लोकोत्सव

13.11 मीरा का काव्य और लोक-संगीत

13.12 वाचिक लोक परम्परा में मीरा

13.13 सारांश

13.14 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- लोक-मानस और आभिजात्य-मानस का अन्तर जान सकेंगे;
- लोक-मानस के निर्धारक तत्वों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- मनुष्य के दैनन्दिन सामाजिक कार्य लोक-मानस से किस सीमा तक प्रभावित एवं प्रेरित होते हैं, इसकी चर्चा कर सकेंगे;
- लोक-संस्कृति की मूल भूत अवधारणाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- मीरा के पदों में लोक-परम्पराओं एवं लोक प्रचलित रीति-रिवाजों का किस भाँति निरूपण हुआ है, इसकी समीक्षा कर सकेंगे;
- मीरा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का लोक पर क्या प्रभाव पड़ा, इसकी जानकारी दे सकेंगे;

- लोक-काव्य परम्परा में मीरा का योगदान का निर्धारण कर सकेंगे; और
- लोक-मानस की कुछ विशिष्ट स्थितियों से परिचित होकर मीरा के पदों की भली-भाँति एवं सुस्पष्ट व्याख्या कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

मीरा के काव्य को समग्र रूप से समझने के लिए राजस्थानी लोक-मानस को भली भाँति समझना आवश्यक है, क्योंकि मीरा कृष्णमयी होने के साथ लोकमयी भी हैं। वह राजमहिषी कम और लोक-मनीषी अधिक है। तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था में नारी घर की शोभा-संवर्धित कर वैयक्तिक या पारिवारिक धरोहर मात्र मानी जाती थी, उस युग में अपनी भक्ति, कृष्ण अनुरक्ति एवं काव्य-शक्ति के बल पर मीरा ने स्वयं को लोक-निधि स्वरूप सिद्ध किया। केवल मेवाड़ के महाराणा परिवार की दृष्टि से 'कुल कलंकिनी' मानी जाने वाली मीरा ने अपने भाव-प्रवण पदों के रूप में उत्तरी भारत के जन-मानस में अपना स्थायी आवास बनाया है और आज भी लोक में मीरा विराजमान हैं।

बुद्धि-विलास प्रधान तथा कथित उच्च वर्ग से विलग लोक-मानस अपनी विशिष्टताओं के कारण पृथक एवं निराली पहचान रखता है। तार्किकता की चादर से आवृत्त बुद्धिजीवी वर्ग की एक सीमा है, जबकि 'लोक' असीम है। मीरा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अन्य इकाइयों में हम पर्याप्त चर्चा कर चुके हैं। इस इकाई में लोक, लोक-जीवन, लोक-मानस एवं लोक-संस्कृति की दृष्टि से मीरा द्वारा सृजित साहित्य का मूल्यांकन किया जा रहा है।

13.2 'लोक' की अवधारणा

'लोक' शब्द संस्कृत में शुद्ध तत्सम रूप में प्रचलित है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'लोक' शब्द 'लोकृदर्शने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न है। संस्कृत में इस धातु से देखने के भाव का अर्थ बोध होता है। इस आधार पर वह समस्त जन समुदाय, जो देखने के कार्य को सम्पन्न करता है, 'लोक' कहलाता है। व्यापक अर्थ में अनेक विद्वानों ने 'लोक' को जन, प्रजा, मानव जाति, यश, कीर्ति, संसार आदि के पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। भले ही प्रारंभ में 'लोक' शब्द को समाज के पर्याय के रूप में स्वीकृत किया हो, पर कालान्तर में समाज दो भागों में विभाजित हो गया-

1. वेद रीति प्रधान समाज
2. लोक रीति समाज

धीरे-धीरे अनेक प्रकार से फैला हुआ 'लोक' सीमित अर्थ ग्रहण करके वेद से विलग हो गया। 'वेद' में दर्शन और ज्ञान का समावेश था और 'लोक' परम्परा से पालित। महावैयाकरण पाणिनी ने वेद से विलग 'लोक' की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकारते हुए एवं अनेकानेक शब्दों की निष्पत्ति बतलाते हुए स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'वेद' में इसका स्वरूप इस प्रकार रहा है, परंतु 'लोक' में इसका स्वरूप भिन्न समझना चाहिए।

भरत मुनि ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' में अनेक नाट्य-धर्मी तथा लोक-धर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख कर 'लोक' की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया है। महाभारतकार महर्षि वेद व्यास ने 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' कहकर 'लोक' की महत्ता स्वीकार की है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में बहु प्रयुक्त शब्द 'लोकजत्ता', 'लोअप्पवाय' भी लौकिक नियमों एवं 'लोक' के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' का परिभाषित करते हुए स्पष्ट लिखा है - "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद'

या 'ग्राम्य' नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।''

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'लोक' को अत्यंत सरल ढंग से परिभाषित किया है। वे कहते हैं;

''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्मशास्त्र हैं। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप हैं।''

इतना ही नहीं डॉ. अग्रवाल ने एक अन्यत्र स्थान पर लोक एवं शास्त्र के भेद को बड़े ही रोचक ढंग से स्पष्ट किया है - ''किसी व्रत, नियम या छंद के भीतर बंधा हुआ जो जीवन है, वह शास्त्रीय, मार्गीय या नियमानुगत कहा जाएगा, किन्तु इसके अतिरिक्त जो शास्त्रीय सीमाओं और व्रतों से व्यतिरिक्त है, जिसे अथर्ववेद के शब्दों में व्रात्य-जीवन कहेंगे, वह लोक-धरातल पर विकसित होने वाले समाज का विराट जीवन माना जायेगा। शास्त्र परिष्कृत उपवन है और लोक अरण्य। शास्त्र की दृष्टि बुद्धि के मंथन का फल है। लोक की दृष्टि हृदय के मंथन से मिलने वाला वरदान है। हृदय और बुद्धि का अंतर ही लोक और शास्त्र का अंतर है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है- **''हृदय सिंधु मति सीप समाना।''**

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वह वर्ग विशेष, जो अतर्क्य भाव से अंध-श्रद्धालु की भाँति पूर्ण आश्वस्त होकर प्रकृति के कण-कण में अलौकिक दैविक सत्ता के दर्शन करता है, पुस्तकीय ज्ञान से गर्वित प्रबुद्ध मानस की तरह छल-प्रपंचों से परिपूर्ण नहीं है, जिसका जीवन शास्त्रीयता की शृंखलाओं से आबद्ध नहीं है, जो पारम्परिक एवं स्वानुभूत ज्ञान को सर्वोच्चता प्रदान करता है, स्वस्थ एवं जन-मन रंजनकारणी परम्पराओं का पुजारी है, मानव-आरोपित व्यवस्थाओं की अपेक्षा शाश्वत नैसर्गिक नियमावली को महत्ता प्रदान करने वाला, भौतिक सुखों की तुलना में आत्मिक संबंधों में सुखानुभूति करने वाला, ''लोक'' कहलाता है। स्वाभाविकता, सरलता एवं सहजता इसके प्रधान गुण हैं। तथाकथित विद्वानों के वैचारिक जाटिल्य से अनवगत भाव-जगत का निवासी जन ही लोक है।

लोक-नायक कृष्ण के पावन प्रेम में तथा आत्मा-परमात्मा के शाश्वत प्रेम में पगी एवं रची भक्त कवयित्री मीरा का जीवन भी किसी व्रत या सामाजिक नियम के भीतर बँधा दिखाई नहीं देता। उसकी करुण पुकार लोक की करुण पुकार है, उसका नृत्य लोक का नृत्य है, उसकी वेदना लोकात्मा की वेदना है।

13.3 लोकमानस : तात्त्विक विश्लेषण

प्रायः सभी विद्वानों, विचारकों एवं चिन्तकों ने सर्वसम्मति से स्वीकारा है कि सामूहिक लोक मानस ही लोक-साहित्य के सृजन की आधार शिला है। लोक-साहित्य की विविध विधाओं एवं लोक कलाओं में लोक प्रतिभा के सच्चे रूप का दर्शन होता है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अवचेतन मानस की स्थिति एवं अभिव्यक्ति पर अत्यंत सूक्ष्मता से विचार किया

तथा उसे सहज अवचेतन एवं उपार्जित अवचेतन के रूप में वर्गीकृत किया। इसी सहज अवचेतन को ही लोक-मानस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह लोक-मानस आदिम मन की मनोवृत्ति का अवशेष माना गया है। जैसे भीड़ का एक मनोविज्ञान होता है, वैसे ही मानव-समूह का भी अपना अलग मनोविज्ञान होता है, जिसे डेम्स फ्रेजर ने 'मानव राशि' नाम दिया है। यह मानव-राशि ही अपनी सामूहिक प्रवृत्तियों को परम्परा के रूप में चिरस्थायी करने का प्रयास करती है। लोक मानस की सत्ता का उद्‌घाटन सांस्कृतिक क्षेत्र की विशिष्ट घटना माना जाएगा।

मनोवैज्ञानिकों का यह मानना है कि जाति ही मानसिक आचरण तथा संस्कृति की निर्धारक है। इसी भाँति नृतत्वशास्त्रियों का विचार है कि मनुष्य की बौद्धिकता, भावुकता एवं संकल्प शक्ति उसके शरीर के विन्यास के अनुरूप विकसित होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुट 'फोकसाइकोलॉजी' में लिखते हैं कि विश्व भर में मानव-मानस की मौलिक समानता सिद्ध है।

लोक-मानस के लक्षणों पर गहराई से विचार करते हुए विद् फ्रेजर ने स्पष्ट किया है कि प्रथमतः लोक-मानस विवेकपूर्वी (प्रि-लॉजिकल) होता है और द्वितीयतः रहस्यशील (मिस्टिक) होता है। लोक-मानस कार्य-कारण की शृंखला पर भौतिक- वादियों की भाँति तर्क नहीं करता और सम्पन्न होने वाले कार्यों की पृष्ठभूमि में पराप्राकृतिक शक्तियों के योगदान को सहज रूप में स्वीकारता है।

मृत एवं जीवितों में कोई भेद न करना यह लोक-मानस की अन्यतम उल्लेख्य विशिष्टता है। लोक मान्यता है कि मृतक भी जीवितों की भाँति ही सत्तावान है। यह लोक-मानस समग्र और अंश में कोई भेद नहीं मानता। लोक-मानस की इस अभेदवादी अवधारणा को पुष्ट करने वाली लोक कथाओं के अभिप्राय (Motif) मिल जाएँगे। लोक-मानस के धरातल पर तुल्य एवं तुलनीय में कोई भेद नहीं माना गया है। टोना-टोटका इसी भावना का परिणाम है। लोकमानस अमूर्त को भी मूर्त रूप में मानता है। मृत्यु को भी लोक-मानस में मूर्त माना गया है। लोक मानस ने कभी भी व्यक्तित्वहीन प्राकृतिक व्यापार की कल्पना नहीं की है। लोक मानस के लिए पृथ्वी माता है, अग्नि, सूर्य, पवन आदि देवता हैं। लोक मानस ने विविध प्राकृतिक तत्वों में भी संघर्ष की कल्पना की है उदाहरण के लिए सूर्य और रात्रि में संघर्ष का होना एवं सूर्य का परास्त होना।

लोक-मानस, मनसा-वाचा-कर्मणा व्यक्ति को सृष्टि के समस्त व्यापारों का अंग मानता है। आदिम मानव ने कभी भी अपने व्यक्तित्व को समग्र सृष्टि से तटस्थ नहीं रखा।

लोक-मानस का तात्त्विक विवेचन करने पर निम्न चार श्रेणियाँ हमारे समक्ष आती हैं- 1. प्राकल्पना, 2. सर्वात्मभाव, 3. टोना-विचार, 4. आनुष्ठानिक विचार।

इस मानसिकता को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

1. लोक-मानस के अनुसार सत्य एवं तथ्य में कोई अन्तर नहीं। 2. लोक-मानस के अनुसार शरीर और छाया शरीर में कोई भेद नहीं, 3. लोक-मानस द्वारा मृतक को निद्रावस्थित मानना एवं आत्मा का पुनः लौटकर मृतक को जीवित कर देना। 4. भूत-प्रेत में विश्वास 5. जड़ एवं प्रकृति पदार्थों में आत्म-तत्व दर्शन (वृक्ष, नदी पहाड़ी का मानव रूप में सक्रिय होना), 7. विधि, अनुष्ठान, उपासना या व्रतादि विशेष से अभीष्ट फल की प्राप्ति होने की मान्यता रखना। 8. संतानोत्पत्ति को ईश्वरीय देन मानना, 9. व्यष्टि के स्थान पर समष्टि में विश्वास।

निरंतर पुनरावृत्ति के कारण काल के प्रवाह में भी लोक-मानस के संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं। आदिम मानस-अवशेष ही परम्परागत अवशेषों को स्वीकारता जाता है। लोकमानस को विश्व मानस का अभिन्न अंश माना जा सकता है। लोक मानस न तो पूर्णतः प्रिमिटिव है और न ही प्रबुद्धमानस की तरह व्यावसायिक। यह अत्यंत सहज और स्वाभाविक है। लोक-मानस जाति, भाषा एवं प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण कर सुगंधित वायु की भाँति अपनी विद्यमानता की अनुभूति करा देता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मानव-प्रकृति में और लोक मानस में भिन्नता नहीं है। यह मानव प्रकृति, (इतर शब्दों में लोक मानस) ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई आदिम युग से अब तक कहीं-कहीं अपने मौलिक स्वरूप में और कभी कभी आवश्यकतानुसार अपेक्षित परिवर्तन करते हुए यथावत् विद्यमान है।

13.4 लोक-संस्कृति

ज्ञान और कर्म दोनों के प्रकाश को संस्कृति कहा जा सकता है। संस्कृति ही मनुष्य का मस्तिष्क है, संस्कृति के बिना मनुष्य की कल्पना कबंध मात्र है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जीवन का सौंदर्य और यश सन्निहित है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है- 'संस्कृति जीवन का पर्याय ही नहीं वह तो जीवन की कुंजी है। संस्कृति एक चेतन धर्म है, जिसे अनुभूति द्वारा पूर्ण रूपेण हृदयंगम किया जा सकता है। संस्कृति मात्र बाह्य रूप या क्रिया नहीं, वह मनुष्य के आन्तरिक गुणों का समूह है। संस्कृति का आधार अन्य व्यक्ति और पदार्थों के साथ 'स्व' को जोड़ने की कला में है। संस्कृति एक प्रेरणा शक्ति है, वही हमारे सामाजिक व्यवहार और क्रियाकलापों को रूप देती है। संस्कृति मानव की आत्मोन्नति का मापदण्ड भी है, और साधन भी।''

13.4.1 संस्कृति का शाब्दिक अर्थ

संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग में 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सम्' उपसर्ग के आगे 'कृति' अथवा 'कार' शब्द को जोड़ देने से सम्+कृति-'संस्कृति' तथा सम्+कार-संस्कार आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है।

संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द का समान अर्थवाची है। निरुक्ति की दृष्टि से 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा का 'कोलर' धातु से निष्पन्न 'कुल्टुरा' शब्द से हुई है, जो संक्षेप में पूजा करना तथा कृषि संबंधी कार्य का क्रमशः बोधक है। किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता को दृष्टि एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों को ही संस्कृति कहते हैं।

प्राचीन काल से ही हमारे देश में दो पृथक्-पृथक धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, जो इस प्रकार थीं - **1. शिष्ट संस्कृति 2. लोक संस्कृति।** शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य उस आभिजात्य वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। यह वर्ग अपनी प्रतिभा के कारण समाज का अग्रणी तथा पथ-प्रदर्शक था जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद और शास्त्र था। परन्तु लोक संस्कृति से अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी। जिसकी उत्स भूमि जनता थी। इस संस्कृति के अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर अवस्थित थे। आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय के मतानुसार - लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है।

लोक-संस्कृति जन-जन के श्रम से सिंचित होकर प्रकृति की गोद में पलती पनपती रही है। मानव से मानव के प्रति सहज प्रेम ही लोक-संस्कृति का साध्य रहा है। प्रेम दीवानी मीरा ने भी इसी प्रेम भाव का प्रसार अपने पदों के माध्यम से किया। श्रम की पूजा के साथ ही पारस्परिक प्रेम से भरी विश्वबंधुत्व की भावना हमारे लोक जीवन का मूलाधार रही है। जन-जीवन के बीच विभिन्न कलाओं में लोक-संस्कृति आज भी स्पंदित है। सृष्टि के प्रारंभ से लेकर अब तक लोक अगणित तरंगों में बहा, अगणित वाद्यों में बजा और अगणित गीतों में अभिव्यक्त हुआ। यही सब समष्टिगत आत्म-प्रकाश लोक-संस्कृति हैं। इसमें हृदय का उद्रेक है, अतः स्वाभाविकता अधिक है। लोक संस्कृति लोक जीवन का शिवत्व है और लोक जीवन का यह शिवत्व स्वरूप ही युगों से अपरिहार्य रूप से विश्व के आकर्षण का कारण रहा है।

13.4.2 लोक-संस्कृति का विराट स्वरूप एवं उद्देश्य

विलियम आर. बास्कम ने लोक संस्कृति के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा है- लोक संस्कृति का एक तो उद्देश्य है सामाजिक संदर्भ में अर्थात् वास्तविक जीवन में उसका सन्निवेश। लोक संस्कृति किसी भी देश की सभ्यता का दर्पण है। सभ्यता के माध्यम से लोक संस्कृति का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक की पूर्ण जानकारी के लिए दूसरे का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

लोक संस्कृति का दूसरा कार्य समाज में प्रचलित सभ्यता का पुष्टीकरण तथा इसके विभिन्न विधि-विधानों एवं संस्थाओं को औचित्य प्रदान करना है।

लोक संस्कृति का तीसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है - लोक को शिक्षित करना। विशेषतया उस असभ्य तथा अर्धसभ्य समाज में जहाँ सभ्यता का प्रचार नहीं हुआ है, यह शिक्षा का अन्यतम माध्यम सिद्ध होती है।

लोक संस्कृति का चौथा उद्देश्य समाज में प्रचलित आचार या लोक व्यवहार की स्वीकृत शैली या रीति की एक रूपता को स्थिर तथा दृढ़ बनाए रखना है। इसके द्वारा सामाजिक नियंत्रण भी किया जाता है तथा सामाजिक दबाव भी डाला जाता है।

संस्कृति के अन्तर्गत जितने विषयों का समावेश होता है उनको हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं - **1. आध्यात्मिक तत्व तथा 2. लौकिक तत्व।**

आध्यात्मिक तत्व के अन्तर्गत परलोक संबंधी धारणा, मोक्ष तथा स्वर्ग संबंधी विचार, साधना मार्ग, जीवन का आदर्श तथा धार्मिक सिद्धान्तों का समावेश है।

लौकिक तत्व के अन्तर्गत मानव जीवन के विभिन्न संस्कार, सामाजिक उत्सव, पर्व और त्योहार, मनोरंजन के साधन, रहन-सहन, वेशभूषा, अलंकरण तथा प्रसाधन, भोजन तथा पेय पदार्थ, सामाजिक रूढ़ियाँ, लोक विश्वास, मान्यताएँ, कला, शिल्प, परम्पराएँ और प्रथाओं आदि की परिगणना की जाती है।

तात्पर्य यह है कि लोक संस्कृति से मानवजीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है। कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार "यह ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित 'पुरुष' की भाँति विराट है तथा गीता में चित्रित भगवान् के विराट स्वरूप की भाँति विशाल है।"

13.5 लोकमयी-आलोकमयी मीरा

व्यक्तिगत बाहुबल, अहंवादी मिथ्या रूढ़ियों एवं सारहीन परम्पराओं को अपनी पुश्तैनी धरोहर स्वीकारने वाला कुल-बल एवं पारिवारिक वैमनस्य तथा ईर्ष्या के बल थोथी

सामाजिक मान्यताओं को आधार बना कर पनपने वाला जाति/समाज/वर्ग बल अकेले लोक-जीवन के समक्ष निस्तेज व निष्प्राण सिद्ध होता है। लोक-जीवन जीने वाला एवं 'लोक' का संबल ग्रहण करने वाला विकट से विकट परिस्थिति में भी कदापि परास्त नहीं होता। भक्त कवयित्री मीरा का जीवन इसी लोक-बल का पुख्ता प्रमाण है और उनका काव्य इसी लोक-बल की उद्घोषणा है। मीरा के काव्य में त्याग, समर्पण एवं उत्सर्ग का ऐसा अनूठा बल है, जो लोक-विश्वास एवं लोक-निष्ठा की प्रभा से प्रभामंडित है। यह सही है कि वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक धरातल पर उन्हें बहुत भारी मोल चुकाना पड़ा, पर 'कुल की कानि' त्याग कर भी 'बाजंता ढोल' गोविंद को मोल लेने वाली मीरा लोक की अनमोल थाती बन गई । सुख सुविधा संपन्न राज-प्रासाद परित्याग कर मीरा ने स्वयं के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को, अपनी जीवन पद्धति को, कृष्ण भक्ति के साथ-साथ लोक को समर्पित कर दिया। लोक-लाज त्यागकर भी लोक-सरोकारों से जुड़ गई और 'लोक' में प्रतीक स्वरूप में नारी की प्रचण्ड-प्रेरिका शक्ति के रूप में उभरी और प्रतिष्ठित हो गई । महाराणा द्वारा शासित मेवाड़ की भूमि पर कृष्ण को इतने आत्मीय एवं सरल-सादगीपूर्ण तरीके से जन-बल संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठापित करना मीरा जैसी दृढ़ निश्चयी नारी से ही संभव था।

राजमद में चूर महाराणा की दृष्टि में मीरा 'कुल नाशिनी' कहलाई और इसलिए उसे जान से मारने के अनेकानेक उपक्रम किए गए पर ज्यों-ज्यों महाराणाओं के दुराग्रह और अत्याचार बढ़ते गए, त्यों-त्यों मीरा की भक्ति और अधिक दृढ़ होती गई तथा उनकी लोक-प्रसिद्धि बढ़ती गई। प्रशासन का प्रकोप ही उनकी ख्याति एवं उनके जन-मन रंजक पदों के प्रचार का संवाहक सिद्ध हुआ। परिवार से निष्कासित, धन, शक्ति और सेना से हीन होकर भी मीरा लोक-विश्वास जीतने में सफल हुई।

लोक-तत्वों की अनूठी अभिव्यंजना, लोक-जीवन की सन्निकटता, लोक-विश्वासों की विश्वसनीयता, लोक-संवेदना की मधुरिम स्वर लहरी के कारण ही मीरा का काव्य इतना लोक-प्रिय बन सका है। अपने शाश्वत स्वरूप में 'लोक' तो केवल 'लोक' ही होता है, वह किसी वर्ग, धारा या सम्प्रदाय से बँधा नहीं होता है। उसकी उन्मुक्तता ही उसकी उत्कृष्टता होती है और मीरा भी किसी कवि-वर्ग, साहित्यिक धारा या सम्प्रदाय विशेष से बँधकर नहीं रही। वह लोकमयी होकर आलोकमय सिद्ध हुई। यही कारण है कि अपने समय में ही नहीं, आज भी सभी नर-नारी, गृहस्थी-संन्यासी, आबाल वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, हिन्दी-अहिन्दी भाषी-प्रत्येक के लिए मीरा प्रणीत पदों की प्रत्येक पंक्ति स्मरणीय है, उसमें अपनत्व है।

13.6 लोक धरातल पर मीरा की विशिष्ट पहचान

लोक में अनूठी चाल चलने वाला ही अपनी विशिष्ट पहचान बना सकता है, प्रतिष्ठा पाता है। रूढ़ियों, प्रथाओं और सारहीन सिद्ध होती परम्पराओं का अंधानुकरण करने वाले को लोक में वैसी प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती, जैसी कुछ नया मार्ग निर्मित करने या नव-परम्परा प्रांरभ करने वाले को मिलती है। इस भाव का लोक-प्रचलित यह दोहा राजस्थानी समाज में बहुत प्रसिद्धि पाकर आप्त वाक्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है-

"लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चले कपूत।
लीक छोड तीनूं चलै, सायर, सिंघ, सपूत।।"

मीरा भी इस धरती की ऐसी ही सपूत नारी-रत्न थीं, जिसे लीक छोड़कर अनूठी चाल चलने के कारण विश्वधरातल पर प्रतिष्ठा मिली।

इस प्रसंग में मीरा के पद की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:-

राणाजी म्हांनै या बदनामी लागै मीठी।
कोई निन्दो कोई बिन्दो, म्हैं चाल चलूंगी अनूठी।।
साँकड़ली सेरयां जन मिळिया, क्यूं कर फिरूं अपूठी।
सत संगत में ग्यांन सुणै छी, दुरजण जलौ जा अंगीठी।।

यहाँ मीरा स्पष्ट रूप से घोषणा करते हुए राणा को कह रही है कि उसे किसी की निन्दा या वन्दना ने फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उसे तो बदनामी मीठी लगने लगी है और वह इस अनूठे मार्ग पर जरूर चलेगी। यह मार्ग सत्संग का है जिसमें दिया जाने वाला ज्ञान ही वह सुनना चाहती है।

लोक-तत्वों एवं लोक-जीवन से संबद्ध साहित्य कभी निष्प्राण नहीं होता। लोक तत्व साहित्य के लिए संजीवनी शक्ति प्रदायक होते हैं और इन्हीं के आधार पर साहित्य जीवंत और शाश्वत बना रहता है। यह लोक तत्व संस्कार रूप में विद्यमान रहता है, जो जीवन पद्धति को संचालित करने हेतु प्रकाश पुंजवत् होता है। लोक के अनुभव का संबल ग्रहण करके ही साहित्यकार जन-मानस पर अधिष्ठित-प्रतिष्ठित होता है। इसके अभाव में उसे एक अजीब सा सूनापन एवं अधूरापन प्रतीत होता है। इस तत्व की प्रतीति ही लोक-धर्म की आधार शिला है। लोक को निकटता से निहारने वाले साहित्य सृष्टा में एक गहरी जीवन दृष्टि मिलती है। स्थान विशेष की भाषा, परिवेश, एवं स्थानीय रंग का प्रभाव उसे मानवीय सरोकारों से जोड़ते हैं। ऐसी लोक दृष्टि ही लोक-मंगलकारी स्वीकारी गई है। मीरा में ऐसी ही लोक दृष्टि थी।

13.7 लोक-शक्ति बनी मीरा की शक्ति

स्वयं को जन्म-जन्मान्तर की कृष्ण-दासी (जलम-जलम री दासी) स्वीकारने वाली, कृष्ण-प्रेम से आकंठ आप्लावित मीरा जब 'बाजंता ढोल' सांवरिया को मोल लेने की बात कहती है तो प्रकारान्तर से यह संदेश भी देती है कि इस प्रेमाभक्ति के सहारे ही कोई भी ईश्वर को मोल ले सकता है - और वह भी 'चौड़े धाड़ै' लुक छिपकर नहीं । मीरा की यह उद्घोषणा महाराणा को प्रसन्नता नहीं देती उसे तो रुष्ट ही करती है लेकिन लोक समाज के लिए यह सुखदायी है। मीरा भली भाँति जान गई थी कि राणा के रूठने से तो मेवाड़ का वास ही छिनेगा पर हरि के रूठ जाने पर तो (हरि रूठ्यां कित जासां) इस लोक तो क्या परलोक में भी ठौर कहाँ ? मीरा की इस लोक हितकारी सीख में राणा के एवं उसके सामंती परिवार के अतिरिक्त सबकी साझेदारी है और परम शक्ति के प्रति उपजे उत्कृष्ट प्रेम में निरंतर बनी रहने वाली बेचैनी की अनूठी अभिव्यंजना है। मीरा की इसी बेचैनी, सर्वस्व समर्पण की भावना, करुणा कलित संवेदना एवं अटूट आस्था ने लोक को आकर्षित किया, प्रभावित किया। वस्तुतः मीरा के काव्य में यह लोक तत्व इस तरह सन्निहित है कि यदि उसे मीरा के काव्य का प्राण कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। काव्य के इसी प्रभविष्णु प्राण-तत्व ने मीरा के काव्य के लिए 'शक्ति-तत्व' का कार्य किया, जिसका संबल ग्रहण कर ही मीरा शक्तिशाली मेवाड़ी महाराणा एवं तत्युगीन विपरीत परिस्थितियों का सामना करने में समर्थ हो सकी ।

13.8 मीरा काव्य पर लोक-शैली का प्रभाव

मीरा ने लोक-जीवन से काफी कुछ प्राप्त भी किया और पुनश्च अपने वर्ण्य-विषय एवं पदों के व्याज से लोक-जीवन को प्रभावित भी किया। मीरा के काव्य का गहराई से अध्ययन

करने पर स्पष्टतः विदित होता है कि मीरा ने लोक-जीवन से विषय वस्तु एवं संरचनात्मक ऊर्जा प्राप्त की है। यही कारण है कि उनके काव्य में बौद्धिकता एवं तार्किकता के स्थान पर लोक-जीवन के आंतरिक सौन्दर्य की पहचान परिलक्षित होती हैं। उनके पदों की हर पंक्ति में ही नहीं अपितु हर शब्द में 'लोक' स्पन्दित है, जिसे शब्दों एवं भावों के साधारणीकरण की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है।

मीरा ने अपने अनेक पदों में **रे, हेरी, माई री, होजी रे, सखी, आली, बंसीवाला, राणाजी** इत्यादि संबोधन सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। संबोधनों की ऐसी संरचना वार्तालाप प्रधान लोक-शैली के अनूठे उदाहरण स्वरूप स्वीकारी गई है। इस लोक-शैली में रचनाकार एवं पाठक/श्रोता के बीच अत्यंत आत्मीयता तथा संवेदना-सामीप्य की स्थिति बन जाती है। वक्ता और श्रोता के बीच अभेद स्थापित हो जाता है। ये संबोधन कृतिकार के लोकानुभव के परिचायक भी हैं और उसे लोक के व्यावहारिक पक्षों के साथ जोड़ते भी हैं। मीरा के काव्य में इस प्रकार के संबोधनों की भरमार है -

1. हेरी! म्हैं तौ दरद दिवाणी, मेरा दरद न जांणै कोय
2. माई! मेरे पिया बिन, अलूणौ लागै देस
3. प्रभुजी! थे कित गया नेहड़ौ लगाय
4. माई री! म्हैं तौ लियौ गोविंदा मोल
5. सखी! मेरी नींद नसाणी रे
6. आली! म्हांनै लागै ब्रन्दाबन नीकौ
7. राणाजी! म्हे तौ गोविंद का गुण गास्यां

13.9 मीरा की काव्य-चेतना और लोक

मीरा की काव्य-चेतना उसके अपने जाने पहचाने लोक एवं परिवेश में विचरण करती प्रतीत होती है। परिवेशगत साम्य एवं आकर्षण के कारण जन-सामान्य भी अपने ही आंतरिक भावों का साधारणीकरण होता देख निरंतर मीरा के पदों की ओर खिंचता चला गया। इनके पदों में व्याप्त लोक-तत्व ने लोक रक्षक कृष्ण की प्रेमा भक्ति का आधार लेकर लोक-हृदय को और अधिक द्रवीभूत किया तथा लोक-विश्वासों को और अधिक दृढ़ीभूत किया। जिन-जिन लोक-विश्वासों, शकुनों, मान्यताओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, पर्वो-उत्सवों, तीज-त्योहारों एवं प्राकृतिक उपादानों को मीरा ने आराध्य कृष्ण की प्राप्ति के लिए माध्यम बनाया, लोक-मानस भी उसी दिशा में झुकता गया, प्रभावित होता गया। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो मीरा का यह प्रयोग (काव्य में स्थानीय रंगत) मीरा के जमीन से जुड़े होने का सुदृढ़ प्रमाण है। मीरा अपने युग की ऐसी अनूठी उपज है, जो लोकान्तर व्यापी हो गई है। आमजन शुभ-अशुभ के प्रति भविष्यवाणी को जानने हेतु सदैव उत्सुक रहता है। इस लोक-विश्वास का संबल ग्रहण कर मीरा का कवि हृदय भी अपने प्रियतम के प्रेम में अधीर होकर ज्योतिषी के समक्ष यह जिज्ञासा भाव प्रकट करता है:-

"रे! म्हारा जूना जोसी!
सांवरियौ मिलण कद होसी रे
म्हारा जूना जोसी!
आओ, म्हारा जोसी जी!
बैठौ म्हारै आंगणियै,
बांच सुणावौ थांरी पोथी।
रे! म्हारा जूना जोसी!
सांवरियौ मिलण कद होसी।

राजस्थान प्रदेश में ऐसे कितने ही लोक-गीत प्रचलित हैं, जिनकी नायिका भी जोशी से अपने प्रियतम के आगमन की तिथि को जानने हेतु जिज्ञासा प्रकट करती हैं। जोशी द्वारा विलंबित तिथि बताये जाने पर जोशी के प्रति खीझ प्रकट करती हुई कहती है कि भविष्य सूचक तुम्हारी इन 'पोथियों-पानड़ियों' को जला दूंगी-

"बाळूं नै झाळूं थारो टीपणौ रे जोसी!"

परंतु माधुर्य भाव की भक्ति में भीनी मीरा के काव्य में ऐसी खीझ नहीं मिलती।

पारस्परिक संवाद की सहज शैली एवं सरल शब्दावली में जोशी से 'सांवरिया से मिलन' बाबत पूछा गया प्रश्न मीरा के लोक-धारणाओं से जुड़ाव का सूचक है। मीरा के पद में जोशी के लिए प्रयुक्त 'रे' संबोधन का प्रयोग उनके अन्तस्तल की प्रश्नाकुलता का बोध कराता है।

अत्यंत सहजभाव से 'कान्हूड़ै' को अपने 'काळजियौ री कोर' (कलेजे की कोर) स्वीकारने वाली मीरा के विरहानुभूति प्रधान पदों में अनेक ऐसी व्यंजनाएँ निहित हैं, जो सभी लोक-जीवन में व्याप्त रही हैं, लोक गीतों का हिस्सा रही हैं। जिन-जिन दृष्टांतों एवं उदाहरणों से राजस्थानी प्रेमाख्यानों एवं राजस्थानी लोक-गीतों की नायिकाएँ अपने असह्य दुःख की अभिव्यक्ति करती रही है, प्रायः उन सभी का समाहार मीरा के पदों में भी आभासित होता है। ऐसे दृष्टांतों से परिपुष्ट एक उदाहरण है-

"लगन लगी जैसे पतंग दीप से
वारि फेरि तन दीजे।
लगन लगी जैसे मिरगा नाद से
सनमुख होइ सिर दीजे।
लगन लगी जैसे चकोर चंद से
अगनी भक्षण कीजे।
लगन लगी जैसे माछली जल से,
बिछड़त ही तन दीजे।
लगन लगी जैसे भंवर पुसब से,
फूलन बीज रहीजे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
चरण कंवळ चित्त दीजे।"

यहाँ पतंगे और दीपक, मृग और नाद, चकोर और चंद्र, मछली और जल तथा भ्रमर एवं पुष्प के दृष्टांतों के माध्यम से मीरा कृष्ण के प्रति अपने प्रेम और समर्पण की अभिव्यंजना करती है।

ये परम्परागत प्रेम के उदाहरण लोक गीतों की स्वर-लहरियों में स्थान पाकर सदा जीवित रहते हैं। प्रेम-दीवानी एवं दरद दीवानी मीरा ने भी अपनी स्थिति का भी आभास इन्हीं के माध्यम से कराया है। इनमें नागरी कविता-प्रयुक्त बिंब भले ही न हों, भले ही प्रतीकात्मकता का आग्रह न हो, पर हृदय का सारल्य और लोक-भाषा का लावण्य अवश्य है। अभिधा शैली की अभिनवता एवं भावनात्मक ऊर्जा के कारण मीरा की संपूर्ण काव्य-चेतना अपने चिर-परिचित लोक में विचरण करती प्रतीत होती है।

लोक-संस्कृति, लोक-मानस की परिचायक और लोक-जीवन की अभिन्न एवं विशिष्ट पहचान होती है। लोक-जीवन से संपृक्त एवं लोक-मानस से प्रभावित रचनाकार अपनी कृतियों में संस्कृति की विभिन्न छवियों को उकेरता है, मुखरित करता है। अपनी

भावाभिव्यक्ति के लिए मीरा के सम्मुख लोक-तत्वों की विपुल संपदा थी, जिसका मीरा ने अत्यंत सहजभाव से उपयोग किया है।

शकुन लोक-जीवन में शक्ति-संचरण का कार्य करते हैं। चंचल मन की कातरता और अमंगल या अनिष्ट की आशंका एवं भयातुरता की स्थिति में लोक-मानस स्वीकृत 'शकुन' व्यक्ति को विशिष्ट संबल प्रदान करते हैं, मनोबल बढ़ाते हैं। निराश हृदय में आशा का संचार करते हैं। कृष्ण के विरह में 'सूकूं खड़ी-खड़ी' एवं 'पंथ निहारूं, डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय' का करुण-स्वर अलापने वाली मीरा को मुंडेर पर बैठे मधुर स्वर लहरी में 'पिउ-पिउ' पुकारते पपीहे की वाणी इसलिए अच्छी लगती है कि इससे लोक-विश्वासानुसार मीरा के आतुर हृदय में 'प्रिय मिलन' की 'आस' बँधती है, और तब आशान्वित मीरा इस उपलब्धि हेतु पपीहे की चोंच सोने से मँढ़वाने हेतु तेयार हो जाती है। राजस्थानी लोक-गीतों की विरहिणी नायिकाएँ जहाँ प्रिय आगमन का शुभ शकुन करवाने वाले कौए की चोंच सोने से मँढ़वाने की बात कहती है, वहाँ मीरा पपीहे के प्रति कृतज्ञता भाव प्रकट करती हुई कहती हैं-

"थारा सबद सुहावणा रे,
जे पिव मेळा आज।
चोंच मढाऊँ थारी सोवणी रे,
तू म्हारै सिरताज।"

शकुन मनाने के साथ-साथ संदेश प्रेषण हेतु लोक-गीतों की नायिकाओं की भाँति मीरा ने भी 'काग' को ही चुना है। मीरा के ही शब्दों में:-

पीतम को पतियाँ लिखूं, कागा तूं ले जाइ।
पीतम कूँ तू यौं जाइ कहियौ,
थारी विरहणी अन्न न खाइ।।

और भी पदों में मीरा कौए और सोनचिड़ी को संबोधित कर अपने 'स्यांम धणी' के शुभागमन की सुघड़ी के संबंध में पूछती हैं। अन्यान्य प्रदेशों की लोक नायिकाओं ने भी 'कौए' को तो संबोधित किया होगा, पर 'सोनचिड़ी' से इस संबंध में वार्तालाप करना राजस्थानी लोक-साहित्य की धरोहर ही कही जाएगी -

उड़जा रे काग बन का,
मेरा स्यांम गया बोहो दिन का रे।
तेरे उड्या-सूं राम मिळेगा।
धोखा भागै मन का रे।।

उड़ि जावो री म्हारी सोन चिड़ी।
रूपा सूं मंढाऊँ थारी आँख पांखड़ी।
सोना सूं मंढाऊं चोंचड़ली।
कह म्हारी चिड़कल सुगण की बातां।
कद आवेला म्हारा स्यांम धणी
मीरा के प्रभु गिरधर नागर।
बाट जोऊं थांरी कद की खड़ी।।

यदि उक्त पंक्तियों को मीरा के पद से अलग कर दें तो लोक-गीत की पंक्तियों एवं मीरा की पंक्तियों में भेद कर पाना मुश्किल हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मीरा ने लोक से बहुत कुछ ग्रहण किया है और साथ ही लोक को प्रभावित भी किया है।

13.10 मीरा-काव्य में लोकोत्सव

अपने आह्लाद को बाँटना 'लोक' का श्लाघ्य गुण है। अपनी प्रसन्नता को सम्पूर्ण लोक की खुशी बनाना और औरों की खुशी को अपनाकर आत्म-विभोर हो जाना-लोक-जीवन की उल्लेखनीय विशेषता कही जा सकती है। प्रसन्नता एवं सुखों के सामाजिकीकरण के अवसर पर राजस्थान में 'गोठ घूघरी' का आयोजन होता रहा है। अपने मन की मौज को सामूहिक भोज (गोठ) के आयोजन द्वारा लोकोत्सव रूप में मनाए जाने की समृद्ध परम्परा इस प्रदेश में रही है। 'जिसकी जोती बाट' वह प्रवासी प्रियतम घर लौट आया। उसके स्वागतार्थ मोतियों से 'चौक पुराने' की लोक-रीति रही है। उसके आगमन पर **'घर नाचै, थांभा हँसै, खेलण लागी खाट''** कहकर लोक-गीतों में हर्षोल्लास की स्थिति का चित्रांकन किया गया है। भला ऐसे प्रेमातिरेक के अवसर पर 'गोठ' का आयोजन कैसे टाला जा सकता है ? मीरा का 'ओळगिया' भी जब घर आया है और वह भी लोक-नायिका की भाँति आतुर होकर उस अवसर को उत्सव की भाँति मनाने एवं 'गोठ' (सामूहिक भोजन) करने की बात कहती है:-

''म्हारै घर आये स्यांम,
गोठड़ी कराइये।
आणंद करूं उछाव,
तन मन की करूं तासळी जी।।''

व्यक्तिगत प्रसन्नता सार्वजनिक हो जाती है तो तीज-त्योहार और गवर-गणगौर के आयोजन बिना राजस्थानी लोक-जीवन अधूरा सा प्रतीत होता है। इन व्रतोत्सवों के आयोजन हेतु राजस्थानी रमणियों का अन्तस्तल अत्यंत उतावला-बावला सा रहता है! कृष्ण प्रेम में 'बावली' मीरा भला राजस्थान के तीज और गणगौर पर्व को कैसे विस्मृत कर सकती थी। इन व्रतोत्सवों के अवसर पर पारस्परिक दुराव-छुपाव की कोई गुंजाइश नहीं रहती है। मीरा भी अपने एक पद में 'आवो सहेल्यां! आपां रळी करां है' कहकर अपने आंतरिक आनंद को सखी सहेलियों के संग बाँटकर द्विगुणित करना चाहती है। मीरा ने स्वयं को लोकाभिमुख प्रवृत्तियों से कभी अलग नहीं रखा है। न भाव में न शैली में। राजस्थान के प्रसिद्ध पर्व 'तीज' और 'गणगौर' प्रेम, मनुहार, हास-परिहास उत्कंठा आसक्ति से सराबोर रहे हैं -

1. सांवण में झड़ लागिया,
सखि! तीजां खेलां हो।''

2. रे! सांवळिया! म्हारै
आज रंगीली गणगौर छै जी
काळी पीळी बादळी में चमकै बिजळी,
मेघ घटा घनघोर छै जी।''

वैधव्य से शापित मीरा द्वारा सुहागिनों के त्योहार 'तीज' एवं 'गणगौर' की बात सुनकर कई समीक्षक चौंक जाते हैं, पर वस्तुस्थिति यह है कि मीरा तो स्वयं को उस लीला पुरुषोत्तम कृष्ण की 'सदा सुहागण' और 'अमर सुहागण' स्वीकारती रही है। स्वयं को 'अमर चूड़े की अधिकारिणी' मानने वाली मीरा के इन दाम्पत्य प्रेम प्रधान शब्दों में 'सुहाग' तो है पर विलासिता, लोलुपता या कामुकता का भाव कतई नहीं है।

13.11 मीरा का काव्य और लोक-संगीत

मीरा और लोक-जीवन के जुड़ाव की चर्चा अधूरी रह जाएगी, यदि मीरा के पदों में प्रयुक्त राग-रागिनियों पर प्रकाश न डाला जाए। ये विविध राग-रागिनियाँ ही किसी रचनाकार को लोक में दीर्घजीवी बनाती हैं, क्योंकि लोक का संगीत से शाश्वत संबंध रहा है। लोक-संगीत और लोक प्रचलित राग-रागिनियों की मधुरिमा, मोहकता एवं कर्णप्रियता कुछ और ही होती है। राजस्थानी लोक-संगीत की अति प्रसिद्ध राग- रागिनियों (मांड, सोरठ, मालकोस, पीलू, आसा मांड, सिंध भैरवी, खम्माच) में सृजित मीरा के पदों की अति प्रसिद्धि का एक बड़ा कारण ये राग-रागिनियाँ भी रही हैं। मीरा अपने पदों को गीतात्मक रूप देकर तथा उन्हें स्वर तथा लय से युक्त करके 'लोकमय' हो गई हैं। प्रिय कृष्ण की 'लगन' में 'मगन' अपने सुरीले मधुर पदों के माध्यम से मीरा राजस्थान तो क्या उत्तरी भारत ही नहीं अपितु दक्षिणी भारत के लोक में भी रच-पच गई हैं। इतना ही नहीं 'हे री, म्हैं तौ प्रेम दीवाणी' का सुरीला स्वर अलापती मीरा जब 'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे' का उद्घोष करती है तो लगता है कि उसके स्वर में स्वर तथा ताल में ताल मिलाकर सम्पूर्ण भारतीय लोक नाचने लग गया है और यह 'समूह नृत्य' मीरा के लोक से 'एकमेक' होने के सबल साक्ष्य है। आज भारत का कोई प्रांत ऐसा नहीं है, जहाँ भाषान्तर, पाठान्तर या अनूदित होकर मीरा के पद प्रचलित न हों। मीरा के ये 'लोक भजन' हर भाषा और प्रांत में गाए जाते हैं। प्रेम, गीत और नृत्य की त्रिवेणी में अवगाहन करने वाली मीरा की लोकमयता की अजस्र पयस्विनी भारत भूमि पर इक्कीसवीं सदी में भी यथावत् प्रवहमान है। कबीर के पद भी लोक का कंठहार बने हैं और उन वाणियों को सस्वर गाते समय गायक एवं श्रोता का मन-मयूर तो नर्तन अवश्य करता है, पर पैरों में थिरकन नहीं होती है। मीरा की सर्वश्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि यहाँ मन और तन दोनों नृत्य-निरत हैं। घुँघरू की घमक की गूँज में कोई कमी नहीं आई है। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के वार्षिकोत्सवों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सामाजिक उत्सवों, धार्मिक आयोजनों-अर्थात् यत्र-तत्र-सर्वत्र मीरा के राग रागिनी प्रधान नृत्यात्मक पदों का राज है। मीरा को 'राजमहिषी' के रूप में तो बहुविध प्रताड़ित होना पड़ा पर वह 'लोकमहिषी' के पद पर आज भी प्रतिष्ठित हैं, पूजित हैं।

13.12 वाचिक लोक परम्परा में मीरा

राज-राजेश्वरी के रूप में सास ससुर जेठ एवं महाराणा परिवार द्वारा 'कुल कलंकिनी', 'कुल नासिनी' संज्ञाओं से अभिहित की जाने वाली मीरा के 'लोकेश्वरी' 'रूप का आभास हमें राजस्थान की वाचिक परम्परा से भी होता है। मीरा के जीवन से जुड़ी अनेक चामत्कारिक घटनाओं से संबधित कई कहानियाँ आज भी जन-जन में अत्यंत श्रद्धा एवं सहज-विश्वास से कही और सुनी जाती हैं। राणाजी द्वारा प्रेषित विष प्याले को प्रभु प्रताप से अमृत तुल्य कर पी जाना, साँप को हाथ में ले लेना, कृष्ण की प्रतिमा में लीन हो जाना-जैसी बहुत सी बातें लोक की कंठहार बनी हुई हैं। लोक का अटूट विश्वास है कि मीरा कोई साधारण नारी नहीं अपितु 'अवतारी नारी' थी। मीरा के जीवन काल में इन अद्भुत एवं चामत्कारिक घटनाओं का घटित होना ही उसके 'अवतारी' होने का प्रमाण है, और यही कारण है कि लोक-मानस में उसकी 'अवतारी' छवि अद्यावधि-विद्यमान है।

13.13 सारांश

मीरा का लोक-जीवन से गहरा जुड़ाव था। वे लोक-मानस की मान्यताओं, धारणाओं से परिचित थी। लोक तत्वों की गहनता उन्हें ज्ञात थी। लोक-जीवन में उनकी गहरी रुचि

थी। लोक संस्कृति के उन्नायक तत्वों के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी। पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में 'लोकलाज' खोकर एवं निंदित होकर भी वे 'लोक' की 'सिरताज' एवं अभिनंदनीय बनी रहीं। आक्रोशित एवं अहम्मन्य तत्कालीन राणा को उनमें भले ही विश्वास न रहा हो, पर आज उन्हीं महाराणा के वंशज मीरा के प्रदेय पर 'मोद' करते हैं गर्व करते हैं। यही मीरा की विजय श्री है। मीरा के आत्म संघर्ष ने, उनकी ईश्वरीय प्रेम प्रगाढ़ता ने, उनकी जीवन शैली ने लोक को भक्ति रसामृत का पान कराने के साथ-साथ जीवन की सार्थकता का पाठ भी पढ़ाया। लोक ने मीरा के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा प्रकट की है तो मीरा ने भी राजस्थानी लोक-संस्कृति को कहीं लज्जित नहीं होने दिया। मीरा राजस्थानी लोक-संस्कृति को एवं राजस्थानी लोक मीरा को यशस्वी बनाने की परस्पर होड़ में लगे प्रतीत होते हैं। मीरा के प्रति ज्यों-ज्यों लोक की श्रद्धा-शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों महाराणा की विरोध शक्ति क्षीण होती गई। अपनी अनन्य अनुरक्ति (मेरो तो गिरधर गोपाळ, दूसरों न कोई) के 'पांण' (बलबुत्ते) ही मीरा महानता के उच्च शिखर पर आसीन हो सकी हैं। राजस्थान के एक लोक कवि की इस काव्यात्मक टिप्पणी में मीरा का जीवन संदेश एवं काव्य का सार-सदुपदेश समाहित है-

"नाम होत है काम से, सुनो सयाने लोय (लोग)।
मीरा पुत्र न प्रसवियौ, चेलौ न मूंड्यो कोय।।"

किसी पुत्र को जन्म दिये बिना और किसी चेले को दीक्षित किये बिना मीरा ने अपने कृतित्व के आधार पर जग में नाम अमर कर दिया। यही मीरा का लोक-संदेश है।

13.14 अभ्यास प्रश्न

1. 'लोक' से क्या तात्पर्य है? लोक-मानस एवं आभिजात्य मानस का अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. लोक-संस्कृति के कार्यों एवं उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
3. 'मीरा का काव्य लोक-जीवन से प्रभावित है', इस कथन की सप्रमाण पुष्टि कीजिए।
4. 'विरहिणी मीरा के स्वरूप एवं राजस्थानी लोक-गीतों की विरहिणी नायिका के स्वरूप में पर्याप्त साम्य है"- क्या आप इस कथन से सहमत हैं? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
5. मीरा के काव्य में किन-किन लोक पर्वों का निरूपण हुआ है? इन लोक पर्वों के सामाजिक सरोकार उद्घाटित कीजिए।
6. लोक-जीवन के संदर्भ में मीरा के उन पदों पर सार्थक टिप्पणी कीजिए, जिनमें उसकी 'रीझ' और 'खीझ' दोनों को अभिव्यक्ति मिली है।
7. लोक सांगीतिक दृष्टि से मीरा के काव्य का मूल्यांकन कीजिए।
8. सोदाहरण प्रमाणित कीजिए कि मीरा को राजमहिषी के रूप में अत्यधिक तिरस्कार एवं लोक-महिषी के रूप में अत्यधिक सत्कार मिला।
9. वाचिक परम्परा में मीरा के जीवन से जुड़ी किन्हीं तीन चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

इकाई 14 मीरा की काव्यभाषा

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 मीरा का समय और काव्यभाषा

14.3 मीरा की काव्यभाषा का आधार एवं स्रोत

- 14.3.1 जीवनानुभव एवं सत्संग
- 14.3.2 सत्संग की जातीय परम्परा
- 14.3.3 जातीय परम्परा में नाथ साहित्य
- 14.3.4 लोक जीवन, साहित्य एवं लोकसंस्कृति
- 14.3.5 मरुभूमि की प्रकृति

14.4 मीरा की भक्ति-संवेदना और प्रतिरोध की काव्यभाषा

14.5 मीरा की भक्ति-संवेदना और काव्यभाषा का भावलोक

14.6 मीरा की विविध रूपा काव्यभाषा

- 14.6.1 प्रतिरोध की काव्यभाषा
- 14.6.2 भाव-अनुभूति की काव्यभाषा

14.7 सारांश

14.8 अभ्यास प्रश्न

14.0 उद्देश्य

मीरा की काव्यवस्तु की तरह उनकी काव्यभाषा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इस इकाई में हम उनकी काव्यभाषा का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन के पश्चात् आपः

- मीरा के समय और उस समय की काव्यभाषा को जान सकेंगे;
- मीरा की भक्ति-संवेदना के लोकवृत्त को पहचान सकेंगे;
- मीरा की काव्यवस्तु के अनुरूप सृजित उनकी काव्यभाषा पर विचार कर सकेंगे; और
- मीरा की विविधरूपा काव्यभाषा के स्वरूप का मूल्यांकन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

काव्यभाषा का संबंध रचनाकार के समय की उन भाषाओं से होता है जो जीवन से सम्बद्ध होकर अपने समय को व्यक्त करती हैं। जिन्हें सामान्यतया हम विशिष्ट वर्ग और सामान्य जन की भाषा कहते हैं। हर युग की जन भाषा का अपना कोई स्वरूप होता है, उसी तरह काव्यभाषा का भी। जनभाषा में समय और व्यवस्था की जरूरतों के अनुसार निरन्तर परिवर्तन होता रहा है, उसी तरह कवि की सृजनयात्रा एवं काव्यभाषा में भी। एक युग की काव्यभाषा में रचनाकार के निजी स्तर पर उसके सृजनात्मक स्तरों में भिन्नता रहती है,

जिससे काव्यभाषा के स्तर पर विविधतामयी सृजनात्मकता का समावेश होता है। एक रचनाकार में काव्यभाषा के कई स्तर हो सकते हैं। इसकी वजह होती है रचनाकार का व्यक्तित्व। यह तो हम जानते हैं कि एक रचनाकार प्राप्त परिस्थितियों में अपने रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण सामान्य व्यक्ति से कुछ भिन्न रूप में करता है। एक बड़े और महान रचनाकार का व्यक्तित्व तभी बनता है जब वह लीक से हटकर चलता है और अनुभव-संवेदना के अनुरूप अपना एक भिन्न मार्ग बनाता है। लीक पर चलने वाले लोग न अपने जीवन में महानता की संभावनाएँ रच पाते हैं, न किसी तरह की सृजनात्मकता में। मीरा की महानता का एक बड़ा आधार उनकी उस विद्रोहिणी प्रकृति में मिलता है, जो अपने समय, परिवेश और मान्यताओं के विरुद्ध उनसे अपने जीवन तथा रचना के संबंध में लीक से हटकर फैसले कराती है और जिसके लिए उनको अनेक तरह की यातनाएँ एवं कष्ट सहन करने पड़ते हैं तथा उन सुख-भोगों और विलासों का त्याग करना पड़ता है, जिनकी सामान्य लोग सदैव आकांक्षा पाले रहते हैं। मीरा के महान व्यक्तित्व की रचना-प्रक्रिया का यह सबसे प्रमुख एवं प्रबल पक्ष है।

इसके अलावा लोकजीवन में परम्परा के रूप में ऐसी बहुत -सी धारणाएँ एवं मान्यताएँ प्रचलित तथा व्याप्त रहती हैं, जो एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को कुछ अलग तरह से सोचने एवं रचने के लिए प्रेरित तथा प्रोत्साहित करती हैं। ऐसी कुछ परिस्थितियाँ बनती हैं कि व्यक्ति अपनी समझ से कुछ नया करने एवं रचने की दिशा में आगे बढ़ता चला जाता है। मीरा के जीवन एवं रचनात्मक संभावनाओं में हमें ये सूत्र स्पष्ट नज़र आते हैं, जो उनकी काव्यभाषा के निर्माण में भी सहयोगी एवं सहायक रहे हैं। मीरा की काव्यभाषा में जितनी निजता है उतनी ही उनकी भूमि, परिवेश एवं परिस्थितियों से सम्बद्धता भी।

14.2 मीरा का समय और काव्यभाषा

हम जानते हैं कि मीरा के महान रचनात्मक व्यक्तित्व का गहरा रिश्ता उनके अपने देश एवं काल से है। उनके महान रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण उनकी अपनी जमीन पर और उनके आत्मनिर्णय की टकराहटों से हुआ है। उन्होंने देशकाल और रिश्तों को अपनी भीतरी आँख या कहें उस प्रज्ञाचक्षु से देखा है, जो आसपास के अन्याय, अनाचार और विसंगतियों को नजरअंदाज नहीं कर पातीं। सबसे प्रमुख तथ्य तो यह है कि मीरा ने अपने स्त्री-जीवन की उन संभावनाओं को पहचान एवं समझ लिया था, जो स्त्री के पुरुष-पराधीनता में रहने के बावजूद, वे प्रतिरोध करके पा सकीं थीं। उनके समय की व्यवस्था एवं रिश्तों का चरित्र सामन्ती था, जिसमें स्त्री को शायद ही आत्मनिर्णय करने का कोई अधिकार रहता हो। वह पूरी तरह पुरुष-सत्ता के अधीन रहकर अपना समय गुजारती या कहें कि काटती रही हैं। समय गुजारना, काटना, बिताना आदि जो क्रियाएँ हैं, वे सभी पराधीनता, दासता व विवशता की द्योतक हैं। इनमें व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए कोई अवकाश नहीं। तत्कालीन स्त्री का जीवन ऐसा ही था और रानी-महारानी भी इसका अपवाद नहीं थी। देखा जाय तो सच इस बात में है कि पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने वाली सामान्य मेहनतकश स्त्रियों को रानी-महारानियों और साम्राज्ञियों की अपेक्षा स्वाधीनता एवं खुलेपन के अवसर हमेशा ज्यादा रहे हैं। मीरा पर भी राजरानी होने की वजह से सभी बंधन और मर्यादाएँ लागू थीं, जो सामन्ती तंत्र में "प्रतिष्ठा" और "इज्जत" के नाम पर थोप दी जाती रही थीं। मेवाड़ का इतिहास गवाह है कि मीरा के श्वसुर तथा मेवाड़ के अधिपति महाराणा सांगा के 27 रानियाँ थीं। हम अनुमान लगा सकते हैं कि इन रानियों का अपना जीवन कैसा होता होगा? इन स्त्रियों की प्राकृतिक और दैहिक जरूरतों की पूर्ति की संभावनाएँ वहाँ कितनी थी? लेकिन हमारा सामाजिक परिवेश पहले से ही इस तरह "ब्रेन वाश" करता चला आया है कि लोग अंधकार भरे समय को भी

उजाले की तरह देखने के अभ्यस्त हो जाते हैं। मीरा का महत्व इस बात में है कि वे अंधकार के चरित्र को भीतर तक पहचानते हुए समय के उस उजाले तक पहुँच पाती हैं, जो उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को प्रकाशवान बना देता है। उनके विद्रोह में उस स्त्री का विद्रोह है, जो सामंती तंत्र की तथाकथित मर्यादाओं को छिन्न-भिन्न करके स्त्री की स्वाधीनता के लिए एक नया मार्ग बनाता है। यद्यपि यह सब उनकी उदात्त भक्ति-भावना की वजह से संभव हुआ है। यहीं से उनकी उस काव्यभाषा का स्वरूप बनता है, जिसमें वे अपने समय के सामन्ती तंत्र के विरुद्ध अपना आक्रोश, विक्षोभ एवं प्रतिरोध व्यक्त करती हुई स्वाधीन पथ का वरण करती हैं।

जैसा कि विदित है कि मीरा का समय एक ही जैसा नहीं था। उसी समय में समय का एक दूसरा पहलू भी था, जो संत और भक्तों की रचनात्मक संभावनाओं में व्यक्त हो रहा था। मीरा से पूर्व कबीर ने अपने समय को दूसरी तरह से पहचाना था और उसके भीतर से उन संभावनाओं को तलाश लिया था, जो "शूद्र" कहे जाने वाले बहुसंख्यक शिल्पी एवं मेहनतकश समुदायों को उनकी रचनात्मक संभावनाओं से पूरित एक नया मार्ग दिखलाती थीं और उनके व्यक्तित्व में आत्म गौरव की सामूहिक स्तर पर प्रतिष्ठा करती थीं। कहने की जरूरत नहीं कि अपने पीहर मेड़ता-मारवाड़ में मीरा ने इस तरह के विद्रोही संतों - भक्तों की चरित्र-कथाएँ अवश्य सुनीं होंगी और यह भी सुना होगा कि भक्ति में न जाति-वर्ण का भेद होता है, न लिंग-धन एवं पद का। समानता और स्वाधीनता का भक्ति में खुला अवकाश रहता है। हम जानते हैं कि मीरा से पहले नाथपंथी सिद्धों-संतों, वैष्णव भक्तों और सूफी साधकों ने भक्ति के क्षेत्र में समता और स्वाधीनता के साथ प्रेमभावना की ऐसी सरिता प्रवाहित की थी, जो एक सच्चे मनुष्य के लिए जीवन जीने का सहारा बनती थीं। इसका प्रभाव मीरा के मन-मस्तिष्क पर पड़ा था, जिसने उनको आत्मनिर्णय करने में मदद की होगी। इसी प्रभाव में मीरा की काव्यभाषा के भाव-संवदेनापूर्ण पहलू का सृजन संभव हुआ होगा। यहीं से उनको वह शब्दावली मिली, जिससे उन्होंने अपनी काव्यभाषा का निर्माण किया। मीरा की भक्ति एवं प्रेम भावना में इस भाषा के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

14.3 मीरा की काव्यभाषा का आधार एवं स्रोत

हर रचनाकार की काव्यभाषा की एक आधारभूमि होती है। वह जिन परिस्थितियों और परिवेश में जन्म लेता है और जहाँ उसका लालन-पालन होता है, वहीं से वह अपनी जीवनभाषा भी ग्रहण करता है, जिसे हम आमतौर पर मातृभाषा कहते हैं। चूँकि एक शिशु का सबसे ज्यादा और सघन सम्पर्क अपनी जननी से रहता है, इसलिए उसकी भाषा की बुनियाद-मातृभाषा के रूप में ही पड़ती है। बाद में वह अपने प्रयत्नों से उसका विस्तार करता है। इसमें उसका वह नया परिवेश और उसके संकल्प तथा जरूरतें भी शामिल होती हैं, जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक होती हैं। इस दृष्टि से जब हम मीरा की काव्यभाषा पर विचार करते हैं तो साफ मालूम होता है कि उनकी काव्यभाषा का मूल आधार उनकी अपनी मातृभाषा है, जिसे आज हम "राजस्थानी" कहते हैं। मीरा के समय में इसकी भाषिक संज्ञा मारवाड़ जनपद के आधार पर मारवाड़ी रही थी, "राजस्थानी" नाम उनसे बहुत बाद का है।

14.3.1 जीवनानुभव एवं सत्संग

हम देखते हैं कि मीरा की काव्यभाषा के निर्माण में जितना बड़ा योगदान उनके जीवनानुभवों का है, उतना उनके किसी शास्त्रीय ज्ञान का नहीं। उनकी भाषा अनुभवपगी भाषा है, जो सीधे हृदय से बाहर आई है। इसीलिए उसमें किसी तरह की सजावट,

बनावट व शिल्प की वैसी तत्सम एवं परिष्कृत रेखाएँ नहीं हैं, जो एक अध्ययनशील एवं शास्त्रोन्मुखी कवि में पाई जाती हैं। उनकी काव्यभाषा कबीर की परम्परा की है। मीरा ने अपने एक पद में स्वीकार किया है कि "संतन ढिंग बैठि बैठि प्रेम बेलि बोई।" मीरा का संतों के सत्संग का अनुभव उनकी काव्यभाषा के निर्माण का सबसे बड़ा स्रोत है। इसने उनके जीवनानुभवों को एक नई दिशा प्रदान की है। उनके समय में साधु-सत्संग और हरि कीर्तन की महिमा स्थापित हो चुकी थी। सच तो यह है कि वाचिक एवं श्रुति परम्परा वाले एक वृहद समाज में सत्संत एवं हरि कीर्तन ही भावों की अभिव्यक्ति तथा ज्ञान की साधना का मुख्य माध्यम रहते आए हैं। आज तक भी यह सिलसिला हमारे यहाँ बना हुआ है। मीरा के अध्येताओं ने माना है कि उनके समय में मारवाड़ अंचल में साधु-समाजों तथा भजन-कीर्तनकारों की आवाजाही काफी अच्छे परिमाण में रही थी।

मारवाड़ अंचल की एक विशेषता रही है कि पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था की प्रमुखता की वजह से यहाँ लोक भावना के स्तर पर समानता के भाव का महत्व इतना ज्यादा रहा है कि वह यहाँ का लोकधर्म ही बन गया। इसका प्रमाण हमें उन लोक संतों तथा लोक देवताओं की गाथाओं में मिलते हैं, जिन्होंने पशुधन-खासतौर से गोधन की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक को न्यौछावर कर दिया था। मीरा से पूर्व इस अंचल के लोकस्तरीय संतों में मल्लीनाथ, पाबूजी, गोगाजी, हरभूजी, मांगलिया, मेहा, रामदेव आदि के पशुधन रक्षा, त्याग, बलिदान, वीरता, परोपकार, अन्याय का प्रतिकार, भेदभाव का विरोध आदि की गाथाओं को बहुत आदर, श्रद्धा और निष्ठा के साथ सुना जाता था, जिससे तत्कालीन समाज के हृदय में एक समानान्तर संसार की रचना होना स्वाभाविक था। यह समानान्तर संसार उस संसार से अलग है, जहाँ मनुष्य भौतिक सुख-साधनों को पाने के लिए न जाने कितने तरह के कुचक्र रचता है और छल-कपट तथा धूर्तता के जाल फैलाता है। मारवाड़ में इस बात के प्रमाण हैं कि संत मल्लीनाथ (जन्म 1378 ई.) ने तत्कालीन राव राजाओं से एक सामान्य मानवीय स्तर पर सर्वसाधारण से निकटता स्थापित करने के उद्देश्य से संत सम्मेलनों के आयोजन करने की प्रथा चलाई थी। रामदेव जी ने जो मीरा के लगभग समकालीन थे, सामन्ती कुप्रथाओं तथा मर्यादाओं का खुला विरोध करके सामान्य जन में प्रतिष्ठा अर्जित की थी और सामान्य जन के हृदय में "घट भीतर सकल तीरथ", तीरथ-व्रत व्यर्थ है, सत्संग सब तीर्थों का सार है, जाति-पाँति कुल मर्यादा सब जीव के बंधन है", जैसी मान्यताओं को तत्कालीन लोकहृदय का हिस्सा बना देने का प्रयास किया था। बाबा रामदेव की वाणियों में सत्संग आदि पर विशेष बल रहता था-उदाहरण के लिए - "सत री नाव गुरु खेवटिया रे, बैठो पार हो जावे" और "सत्संग सिवा कठेइ नहिं सुधरै, तीनूं ही लोक फिरि आवै" जैसी वाणियों से यह स्पष्ट हो जाता है।

मारवाड़ के इन लोकसंतों की परम्परा में नागौर के हरभूजी का नाम भी बहुत आदर के साथ लिया जाता है। जोधपुर के संस्थापक राव जोधा और उनके पुत्र दूदाजी के मन पर इनकी वाणियों का गहरा असर था, ऐसा माना जाता है। मीरा इन्हीं राव दूदा की पौत्री थी, और ये अपने समय में साधु-संगत तथा सेवा के लिए जाने जाते थे। मीरा को इस परिवेश से एक दिशा अवश्य मिली होगी। इसी संगति ने मीरा के कवयित्री मानस में शब्दों का एक कोष संचित कर दिया था, जो आगे चलकर उनकी काव्यभाषा के निर्माण में सहायक हुआ। कवि की भाषा एक दिन में निर्मित नहीं होती, जैसे जैसे वह अपने जीवन में अनुभव-कोश का संचय कर उसे अनुभूति -कोश में बदलता है, वैसे-वैसे उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसके भीतर एक भाषिक रूप भी निर्मित होता जाता है। मीरा की काव्यभाषा में शब्दों और मुहावरों के अनेक लोकरूप इसी स्रोत से आए हैं, जिनको चाहें तो हम देशज, जनपदीय या स्थानीय भाषा-स्रोत नाम दे सकते हैं।

14.3.2 सत्संग की जातीय परम्परा

मीरा की काव्यभाषा का दूसरा प्रमुख स्रोत उस जातीय काव्यपरम्परा से निसृत हुआ है, जिसमें रामानंद, कबीर, रैदास आदि संतों की वाणियों -सबदों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके साथ ही मारवाड़ी लोकमानस पर टोंक क्षेत्र के धन्ना भगत और हाड़ौती-कोटा के संत पीपादास की वाणियों का गहरा प्रभाव रहा है। स्वयं मीरा ने अपने एक पद में संत पीपा के परचे की बात स्वीकार करते हुए अपने मत को दृढ़ता प्रदान की है -

पीपा को प्रभु परचो दीन्हो, दिया रै खजीना पूर।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, धणी मिल्या छै हजूर।।

इस जातीय परम्परा में एक महत्वपूर्ण नाम चैतन्य महाप्रभु का है। इनके भावों -विचारों एवं भक्ति-संवेदित कार्य-व्यापार का गहरा प्रभाव मीरा के मन पर अवश्य रहा होगा। मीरा की नृत्य मुद्रा का प्रमुख स्रोत कदाचित यही है। मीरा पद-रचना के साथ स्वयं गाती-बजाती भी हैं और नृत्य भी करती हैं। जबकि अन्य संत उनकी तरह नृत्य नहीं करते । नृत्य की परम्परा महाप्रभु चैतन्य के यहाँ है। "पग घुघरू बांध मीरा नाची रे" - लिखकर वैसा ही आचरण भी करना सभी तरह के बंधनों से मुक्त हो जाने की एक दशा है। मीरा ने अपने एक पद में चैतन्य का नाम भी लिया है -

मात जसोमति माखन कारन बाँधे जाके पाँव।
स्याम किसोर भयो नव गोरा चैतन्य जाकौ नाँव।।
पीताम्बर कौ भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर कृष्ण की दासी मीरां, रसना कृष्ण बसै।।

14.3.3 जातीय परम्परा में नाथ साहित्य

मीरा की काव्यभाषा के निर्माण में नाथ-परम्परा के साहित्य की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है। जातीय परम्परा में इसका खास महत्व इस वजह से है कि मीरा की चेतना, भावभूमि एवं रचना प्रक्रिया पर इस स्रोत का गहरा असर रहा है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण भारतीय संत परम्परा का मुख्य स्रोत नाथों एवं सिद्धों का साहित्य रहा है। संत परम्परा के प्रतिनिधि कवि कबीर के मन पर इसका गहरा असर रहा है। मीरा, चूँकि किसी सम्प्रदाय विशेष से बँधी नहीं थी, इसलिए उनके स्वच्छंद मन ने जहाँ से भी, जो महत्वपूर्ण मिल सकता है, वहीं से उसकी भावनाओं को अपना बनाकर स्वीकार कर लिया था। उन्होंने सगुण भक्ति परम्परा की भी कोई सीमा स्वीकार नहीं की थी। कृष्ण परम्परा की सगुण भक्त-कवयित्री होने के बावजूद वे वल्लभसम्प्रदाय की सीमाओं में नहीं बँधी थीं। वे अपने स्वच्छंद मन के साथ कभी चैतन्य की ओर निकल जाती थीं तो कभी निर्गुण पंथ के जोगी-भाव की ओर। मीरा के काव्यमानस को किसी एक परिधि में बाँधकर नहीं समझा जा सकता। जिस तरह वे अपने जीवन में स्वच्छंद हैं, उसी तरह अपनी काव्य चेतना में भी। वैष्णव परम्परा की कवयित्री मीरा की काव्यभाषा का एक स्रोत इसी नाथ परम्परा से आया है, जिसके प्रमाण इस तरह के अनेक पदों में मिलते हैं-

जोगिया ने कहियो रे आदेस
आऊँगी मैं नाहिं रहूँगी, कर जोगन को भेस। (टेर)
चीर को फाडूँ कंथा पहिरूँ, लेऊँगी उपदेस।
गिणते गिणते घिस गई रे, मेरी उगलियाँ की रेख।। 1।।
मुद्रा माला भेस लूं रे, खप्पड़ लेऊँ हाथ।
जोगिन होय जग ढूँढ सूँ रे, रावलिया के साथ।। 2।।

14.3.4 लोक जीवन, साहित्य एवं लोकसंस्कृति

मीरा के मानस पर उनके समय के लोकगीतों का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। उनके रचना-संसार में अनेक ऐसे पद मिलते हैं जिनकी भाषा का मुख्य स्रोत स्त्रियों में प्रचलित लोकगीत रहे हैं। स्त्री-जीवन में विरह दशा की अनेक स्थितियाँ प्राचीन काल से बनती रही हैं, जिनसे स्त्री को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर मिला है। मीरा ने उनको अपने आदर्श के संदर्भ में निजी रूप देकर इस तरह के अनेक पदों में सम्मिलित कर लिया है-

पपीया रे पीव की बानी न बोलि ।
सुनि पावैगी, बिरहिनि राखैली पाँखाँ मरोड़ि ।
चोंच कटाऊँ पपीया रे, ऊपर कालो रे लोंण।
पीव हमारे मैं पीव की रे, तू पीव कहे सौ कौण।।

14.3.5 मरुभूमि की प्रकृति

मीरा की रचना-भाषा का एक स्रोत मरुभूमि की प्रकृति से प्रवाहित हुआ है। हम जानते हैं कि मीरा के जन्म और जीवन का संबंध जिस भूमि से रहा है, वह मरुभूमि कहलाता है। मरुभूमि का मतलब है सूखी एवं नीरस भूमि, जहाँ सबसे ज्यादा अभाव और संकट जल का रहता है। यही कारण रहा है कि इस अंचल की सबसे सुहावनी और जीवनदायिनी ऋतु, वर्षा को माना जाता है। वर्षा ऋतु, इतनी मादक और मोहक होती है कि अपने प्रिय से वियोग की बात इसमें एक क्षण के लिए भी अच्छी नहीं लगती। इसी अनुभव से मीरा भी कहने लगती है -

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आया, दामिन दमकै झर लावन की।।
नन्हीं नन्हीं बूंदन मेहा बरसे सीतल पवन सोहावन की।।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, आनंद मंगल गावन की।।

इस तरह हम देखते हैं कि मीरा की काव्यभाषा के निर्माण के स्रोत कई दिशाओं से प्रवाहित रहे हैं। इनके अलावा उनकी अनेक मान्यताओं और संस्कारों का निर्माण उनके परिवेश से हुआ है, जिनको उन्होंने रचनाओं में समाविष्ट किया है।

14.4 मीरा की भक्ति संवदेना और प्रतिरोध की काव्यभाषा

कृष्णभक्ति काव्य-परम्परा में मीरा अकेली ऐसी कवयित्री हैं, जो भक्ति-विवेक से प्राप्त जीवन-दृष्टि के अनुरूप प्रतिरोध के मार्ग को अपनाती हैं। वे चाहतीं तो कृष्णभक्ति अपने राजमहल के किसी मंदिर या राजप्रसाद में निजी मंदिर बनवाकर कर सकती थीं और उसी के अनुरूप काव्यसृजन भी। किन्तु मीरा की भक्ति कुछ और किस्म की थी। वे भक्ति में ही नहीं वरन् उसके भौतिक स्तर पर भी मुक्त होना चाहतीं थीं। कदाचित वे उन राजसी दावपेंचों, क्रूरताओं, छल-छद्मों से जुड़ी अमानवीयताओं को अपने भक्ति-मार्ग के अवरोधक मानती थीं। सच तो यह है कि वे सच्चा भक्त होना चाहती थीं। वे कर्मकांडीय भक्ति और अनुष्ठानों में विश्वास नहीं रखती थीं, उनका विश्वास था सच्ची, सरल अर्थ निश्छल प्रेमाभक्ति में। इससे जरूरत थी कि वे पहले राजसी मर्यादाओं और निषेधों से मुक्ति प्राप्त करें। उनके लिए राजसी बंधन सच्चे मार्ग की पहली सबसे बड़ी बाधा थे। इसलिए उनको पहला काम उस बंधन को तोड़कर फेंक देने का करना पड़ा। तभी तो वे बार-बार "माणक,

मोती परत न पहरूँ" के साथ "राणा कुल की लाज गमाई, साधां के संग भटकी" और "जेठ बहू की काण न मानूं पड़ो घूंघट पर पटकी" - जैसी राजतंत्र विरोधी बातें दो टूक शब्दों में और सरेआम कहती हैं। उनको निजी कष्टों, यातनाओं और मृत्यु का कोई डर नहीं। वे स्वयं अच्छी तरह जानती हैं कि जो मार्ग वे चुन रही हैं, वह काँटों भरा है। किन्तु वे यह भी समझती हैं कि सच्चा प्रेम मार्ग यही है, जो सभी तरह के भेद-भावों, ऊँच-नीच की दीवारों को गिराकर विशुद्ध मनुष्यता के लक्ष्य की ओर जाता है। वे मेवाड़ के तत्कालीन शासक अपने जेठ से साफ शब्दों में कहती हैं कि "मारो चाहे छाँड़ो राणा, नांहि रहूं मैं बरजी" यानि अब मैं मृत्यु का वरण करने के लिए भी तैयार हूँ। आप जो चाहें, मैं अपने रास्ते को छोड़ने वाली नहीं हूँ। यही भावना और आचरण-संकल्प की दृढ़ता मीरा की कविता को ऊँचाइयाँ प्रदान करती है। चूँकि यहाँ हम ये बातें काव्य भाषा के संदर्भ में कर रहे हैं इसलिए कहा जा सकता है कि यहाँ मीरा की काव्यभाषा का मिजाज पूरी तरह बदला हुआ है। उनकी शब्दावली में निर्णय की स्पष्टता और दृढ़ता से एक अलग तरह की खनक और स्फूर्ति आ गई है। उसके शब्दों की बाहरी सजावट खत्म हो गई है और वह मुहावरेदार हो गई है। एक पद देखिए -

आली रे मेरे नयनन बान पड़ी। (टेर)
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।।
कब की ठाड़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।।
कैसे प्राण पिया बिन राखूं, जीवन मूल जड़ी।।
मीरां गिरधर हात, बिकानी, लोक कहैं बिगड़ी।।

इस पद में "लोग कहैं बिगड़ी" अकेला पद-प्रत्यय ऐसा है, जो काव्यार्थ के रंग को तिगुना-चौगुना कर देता है। मीरा को यह सब मालूम है कि जो काम वे कर रही हैं, उसके बारे में उनके समय का समाज क्या सोच रहा है? सामन्ती विश्वासों में बुरी तरह जकड़े लोग आज भी स्त्रियों के बारे में ऐसा ही सोचते हैं। सच्चे प्रेममार्ग में आज भी इतनी ही बाधाएँ हैं, यद्यपि कानून के अनुसार बहुत-सी तथाकथित मर्यादाओं की दीवारें ढही भी हैं। तथापि सामाजिक तौर पर हमारे ग्रामीण समाजों में स्त्री-पुरुष के रिश्ते सामन्ती मान्यताओं और धारणाओं के अनुरूप आज भी चलते देखे जा सकते हैं।

प्रतिरोध की काव्यभाषा का दूसरा स्वर वहाँ मिलता है, जहाँ वे सत्य-असत्य यानी साँच-झूठ के द्वन्द्व को दिखलाती हैं। एक ओर वे 'झूँठ' को बतलाती हैं तो दूसरी ओर 'साँच' को। दरअसल जहाँ प्रेम नहीं है, निर्मलता नहीं है, अपनत्व-आत्मीयता नहीं है वहाँ 'झूँठ ही झूँठ' है, साँच नहीं। मीरा को भक्ति की रीति ने सत्य का मार्ग दिखलाया है, जिसके ऊपर चलकर वे झूँठ-साँच को तोलकर देख लेती हैं। उनकी काव्यभाषा के इस स्वरूप की एक बानगी प्रस्तुत है -

झूंठा पाट पटंबरां री, झूंठा दिखणी चीर।
साँची पियाजी री गूदड़ी, जामें निरमल रहे सरीर।।

व्यक्ति में त्याग की भावना और तदनुरूप आचरण एक तरह का प्रतिरोध ही कहा जाएगा। त्याग दरअसल लोभ के द्वन्द्व में व्यक्ति-मन की प्रतिरोधात्मक अभिव्यक्ति है। जो लोग त्याग नहीं कर सकते, वे प्रतिरोध भी नहीं कर सकते। जो लोग लोभग्रस्त होकर प्रतिरोध के मार्ग पर यदि चल भी पड़ते हैं तो वे ही अन्ततः प्रतिरोध के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा भी बन जाते हैं। ऐसे लोगों ने इतिहास में त्याग-तपस्या के मुखबिर होने का काम किया है। त्याग-भावना के भी अनेक सोपान होते हैं। छोटे-मोटे त्याग भी सामान्य लोग नहीं कर पाते। मीरा राजसी वैभव, सुख सम्पदा का त्याग तो करती ही हैं, अपने प्राणों तक का मोह छोड़ देती हैं। उनका विरह उन रीतिकालीन विलास-भामिनियों की तरह इकहरा नहीं है, जो अपने

प्रिय मिलन से शारीरिक इच्छापूर्ति के लिए ही उनकी बाट जोहती हैं। मीरा का विरह बहुआयामी है, वह त्याग, अपनत्व, दृढ़ता, निर्मलता, साहस, निडरता जैसे जोखिम भरे जीवन मूल्यों के बीच विकसित हुआ है। यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी काव्यभाषा में भी त्याग-भावना को एक तर्कपद्धति के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। जैसे एक पद की भाषा के सौन्दर्य को देखिए-

तन आभूषण छोड़े सबही, तज दिये पाटपटोरी।
मिलन की लग रही डोरी।।
आप मिल्यां बिन कल न पड़त है त्यागे तिलक तमोरी।।

इस पद में "पाटपटोरी" और तिलक तमोरी" शब्दों की व्यंजना का सौंदर्य बतलाता है कि मीरा अपनी काव्यभाषा के प्रति कितनी सजग एवं सावधान रही हैं। यहाँ "छोड़ना" "तजना" और "त्यागना" क्रियाओं का पर्यायपरक समुच्चय और शब्दगत वैविध्य का प्रयोग कोई सजग कलाकार ही कर सकता है।

14.5 मीरा की भक्ति-संवेदना और काव्यभाषा का भावलोक

मीरा की भक्ति-संवेदना का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष उनके उस भाव-संसार में उद्घाटित हुआ है; जहाँ वे कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम में अपनी अनुभूति को रचती हैं। यहाँ उनकी काव्यभाषा में हम भक्ति-संवेदना के फ्रेम में एक नए तरह की सृजनात्मकता का अनुभव करते चलते हैं। उनकी काव्यभाषा के संदर्भों से हमारा ध्यान केवल उनके भक्त रूप तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उनके उस त्याग और कष्ट सहन करने की क्षमताओं की ओर भी जाता है, जो सच्ची भक्ति करने वाले के जीवन-पथ को एक नए आलोक से भर देती है। यदि समाज में धार्मिक आडम्बर, कर्मकाण्ड, लोभलालच और डरों के आग्रहों से प्रेरित भक्ति तंत्र की जगह इन भक्तिकालीन संतों-भक्तों जैसी सच्ची भावाभिव्यक्ति हो तो आज भी हमारे भीतर का गहन अंधकार एक हद तक दूर हो सकता है। मीरा की काव्यभाषा की सर्जनात्मकता इस बात में है कि यहाँ काव्यभाषा के लिए अपनी जमीन का निर्माण कवयित्री स्वयं करती हैं। इस तरह यहाँ वह जीवित अभिव्यक्ति बनकर एक नए तरह की "काव्यभाषा" का निर्माण करती हैं।

मीरा का प्रयोजन कृष्णभक्ति है, जो प्रेमभावना के अवलम्बन से परवान चढ़ती है, किन्तु उनके भक्तिसागर में अनेक तरह के तूफान और उत्ताल तरंगें आती हैं, जो उनके भावलोक को एक नई आभा, तेज, उदात्तता और चमक से भर देती हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि मीरा की काव्यभाषा का मूलाधार राजस्थानी भाषा है, जो कहीं ब्रज से संवेदित है तो कहीं गुजराती से। इसके अलावा मीरा के भावों की अभिव्यक्ति अन्य भाषा-बोलियों में भी कर गई हों, तो यह उस लोकहृदय की जरूरत के तहत संभव है, जो सारी दुनिया में एक ही रूप में व्यक्त होता है। मीरा की अपनी भाषा तो राजस्थानी है, जो कृष्णकाव्य की प्रमुख भाषा ब्रज के संस्कार भी अपने साथ लेकर चली है। एक उदाहरण देखिए -

निरमोहीड़ो नेह न जोड़ै छै।
यो मन मस्त कह्यो नहीं मानै, अमृत में विष घोरै छै।।

यहाँ परिवर्तित पाठों में "जोड़ै छै" की जगह "जोरै छै" भी मौजूद है, जो राजस्थानी के ब्रज-संस्कार की सूचना देता है। मीरा की काव्यभाषा में भाव के स्तर पर ब्रजभाषा, राजस्थानी भाषा के संग-संग लगी हुई चलती दिखलाई देती है। यह अवश्य है कि उसका मूल राजस्थानी ही है। जिसकी विवेचना हम आगे चलकर विस्तार से करेंगे।

14.6 मीरा की विविध रूपा काव्यभाषा

जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है कि मीरा की काव्यभाषा के कई स्रोत व आधार हैं। वह भाव के अनुरूप अपना स्वरूप ग्रहण करती है। जहाँ मीरा अपने समय और समाज की मान्यताओं के प्रतिरोध में खड़ी होती हैं, वहाँ उनकी भाषा वैसी ही नहीं रहती जैसी कि श्रीकृष्ण के प्रति वे जब अपनी प्रेमभावना व्यक्त करती हैं, तब होती है। किसी भी रचनाकार की काव्यभाषा के माध्यम से हम उसकी जीवन दृष्टि, जीवनानुभवों का दायरा, विवेक-चेतना और देशकाल की परिधि का आसानी से पता लगा सकते हैं। काव्य-भाषा हमारे लिए साधन होती है, साध्य नहीं। वह रास्ता तो है, मंजिल नहीं। लेकिन साध्य और मंजिल तक पहुँचने के लिए साधन और रास्ते की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं होती। इस रूप में मीरा की काव्यभाषा से हमें पता चलता है कि वे परम्परा से प्राप्त भावविवेक तथा अपने समय और निजी चेतना में एक संतुलन बनाकर चलती हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि वे अपनी परम्परा के अनेक स्रोतों से बहुत कुछ करती हैं। ऐसे अनेक मिथक, धारणाएँ, मान्यताएँ और लोकविश्वास हैं, जिनको मीरा ने स्वीकार कर अपने रचनाकर्म में उनका उपयोग किया है किन्तु मीरा इसी सीमा तक आकर नहीं ठहरतीं। वे अपने अनुभव और विवेक से परम्परा रूप में चली आ रही कई रूढ़ियों को दृढ़ता से अस्वीकार करती हैं और अपने अस्वीकार के लिए हर तरह का दण्ड भुगतने को तैयार रहती हैं। वे अपनी मान्यताओं में स्त्री-जीवन के लिए खींची गई रेखाओं का अतिक्रमण करती हैं। वे साहसपूर्वक जो निर्णय करती हैं, उसके लिए समाज उनको अपयश और अनेक तरह से लांछित करता है, यहीं वे स्वभाषा का सृजन करती हैं। यहीं वे राणा के देश की तुच्छता व निम्नता को "देसड़लो" जैसे एक शब्द में व्यक्त कर देती हैं। इतना ही नहीं, वे अपनी सौन्दर्य की कसौटी तक को बदल लेती हैं। वे वैभव, सम्पदा, ऐश्वर्य और शक्तितंत्र से अपने राज्य के सौन्दर्य का आकलन नहीं करतीं वरन् उस मनुष्य समाज से करती हैं, जो उस राज्य में रहता है। वे दो टूक शब्दों में राणा से कहती हैं कि यह राज्य तुम्हारे लिए और इसका सुखोपभोग कर रहे तुम्हारे सामंतों के लिए "रंगरूड़ों" यानी बहुत सुंदर, मोहक और आकर्षक हो सकता है किन्तु मुझे यह सुहाता नहीं है, भाता नहीं है -"नी भावै थारौ देसड़लो रंगरूड़ो।" देश के अच्छा नहीं लगने का कारण है कि इस में रहने वाले लोग, साधु नहीं है, वे सब कूड़े-करकट की तरह हैं। उनके अस्तित्व की कोई अर्थवत्ता नहीं है -"थारा देस में साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो। इस प्रतिरोध-प्रसंग की काव्यभाषा में मीरा का अपने समय, समाज और रिश्तों के प्रति जो सहज आक्रोश और स्पष्ट धारणा व्यक्त हुई है, वह मीरा की काव्यभाषा के यथार्थ का सटीक प्रमाण प्रस्तुत करती है।

14.6.1 प्रतिरोध की काव्यभाषा

मोटे तौर पर हमने मीरा की काव्यभाषा की विवेचना के लिए उनके प्रतिरोध पक्ष को इसलिए अलग रखा है कि वह कवयित्री की चेतना में इस कदर समाया हुआ है कि उसकी याद वह अक्सर हर प्रसंग में कर लेती हैं। वह इस बात को अच्छी तरह जानती हैं कि उन्होंने जो कदम उठाया है, वह "लोकमान्य" नहीं है। लेकिन उनको स्वयं के विवेक पर भरोसा है, इसलिए वे अपने निर्णय से विचलित नहीं होतीं। वे मानो बार-बार अपने निर्णय की याद दिलाती हुई कहती हैं कि उन्होंने जो भी निर्णय लिया है, वह बहुत सोच-विचारकर लिया हुआ निर्णय है। उस निर्णय से अब उनको कोई विचलित नहीं कर सकता। वे लोकमान्यता के विरोध में जाकर उसके विपरीत अपनी मान्यता को स्थापित करती हैं। लोकमान्यता की शब्दावली को मीरा ने संवाद-शैली में इस रूप में प्रस्तुत किया है -

एक कुल लाजै मीरां आपणो, दूजो बंस राठोड़।
तीजा लाजैजी मीरा मेड़तो, चौथो गढ़ चित्तोड़।।
भक्ति छोड़ोजी हरिनाम की।।

इसके विपरीत मीरा अपने निर्णय को इन शब्दों में व्यक्त करती हैं -

एक कुल त्यारां राणां आपणो, दूजो बंस राठोड,
तीजो त्यारां जी राणां मेड़तो, चौथो गढ़ चित्तोड़
भक्ति करांजी भगवान की।।

स्पष्ट है कि मीरा का प्रतिरोध कहीं भी वायवीय, काल्पनिक और अमूर्त नहीं है। वह आमने-सामने का प्रतिरोध है। यहाँ शत्रु कहीं दूर दिल्ली, जयपुर या अमरीका में बैठा हुआ नहीं है। यह घर के भीतर अपने परिवार कुटुम्ब में ही बैठा हुआ है। यहाँ देखने की बात यह है कि मीरा स्वयं को संघर्ष के लिए तैयार करती हैं। उनको स्वयं लड़ना पड़ता है, जैसे कोई शहीद पहले स्वयं लड़ता है। सच तो यह है कि यह केवल भक्ति-क्षेत्र का संघर्ष नहीं है, वरन् अच्छे-बुरे, और सत्-असत् का संगर भी है, जिसे मीरा भिन्न तरह के अस्त्र-शस्त्रों से लड़ती है। वे जानती है कि प्रेम का रास्ता काँटों से भरा होता है -"प्रीति को पैंडो बहुत कठिन है, चार कही दस और कहो रे।" इस कठिनाई, संघर्ष और प्रतिरोध से जो काव्य-भाषा निर्मित होती है, उसमें "राधा जी रा गोखड़ा" "मीरांबाई री साळ", "सांप टिपारा", "नोसर हार", "सांड्या-सांडिया" पलाणज्यों, "म्हे चालां सौ सौ कोस, राणा जी का देस में कोई जल पीबा को दोस", "लोक लाज की कुल मरजादा, तिणका ज्यूं सब तोड़ी" जैसी शब्दावली का एक नया भाषा-संसार सामने आता है, जिसमें स्वयं रचनाकार का चरित्र साक्षात्कार भी होता है। मीरा की चारित्रिक दृढ़ता को व्यक्त करने वाला एक पद देखिए -

काहू की मैं बरजी नाहिं रहूँ।
जो कोई मोकू एक कहै, मैं एक की लाख कहूँ।।
सास की जाई मोरी ननद हटीली, यह दुख किनसे कहूँ।।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर जग उपहास सहूँ।।

इस तरह के पदों में मीरा की अपनी चारित्रिक दृढ़ता का पक्ष उजागर हुआ है और यहाँ "काहू", "मोकू", "मोरी" आदि सर्वनाम प्रयोगों से मालूम होता है कि मीरा की काव्यभाषा का प्रमुख स्वर राजस्थानी होने के बावजूद वह ब्रजभाषा के संस्कार से दूर नहीं है। मीरा की काव्यभाषा की खासियत यह है कि यहाँ भाषागत शुद्धता के प्रति कोई आग्रह नहीं है। यह बोलचाल की भाषा है जिसमें जरूरत के अनुरूप हिन्दी के अन्य नजदीकी बोली-रूपों का समावेश कर लेने में भी कवयित्री को कोई एतराज नहीं है। मसलन इस पद में "यह दुख किनसे कहूँ" - वाक्यांश, खड़ी बोली हिन्दी की प्रकृति वाला है। यहाँ "किनसे" और सर्वनाम के साथ "दुख" (संज्ञा) और "कहूँ" (क्रिया) शब्द खड़ी बोली हिन्दी में निर्बाध प्रयुक्त होते हैं। यहाँ राजस्थानी तो दूर की बात है, ब्रजभाषा भी नहीं है। इस तरह मीरा ने बोलचाल की भाषा के अनुरूप राजस्थान के उस ठेठ चारणी डिंगल रूप से अलग हटकर एक निजी काव्यभाषा का सृजन किया है जिसमें भाषिक शुद्धता के लिए कोई स्थान नहीं है।

मेवाड़ के राणा को सम्बोधित तीस-बत्तीस पदों में मीरा ने अपने उन भावों को व्यक्त किया है, जो उन्हें राजसत्ता और उसके वैभव में बाँधकर नहीं रख पाते। इन पदों की भाषा में उनकी प्रतिरोध-भावना खुलकर उजागर हुई है। वे इनमें राणा के सामने अपना पक्ष रखती हैं कि राणाजी व्यक्ति के कर्मों का संगाती कोई नहीं है। ऐसे पदों में वे लोग-चिन्तन का

सहारा लेती हैं, जो व्यक्ति के हर निर्णय का औचित्य स्थापित करने में काम में आता है। यह एक तरह का नियतिवादी चिन्तन है। जैसेः-

एक तो माता रै दोय दोय डीकरा, ज्याँ की न्यारी न्यारी भाँत
बाँकी न्यारी न्यारी करमां रेख।
एक तो राजाजी री गद्दी बैठिया, दूजो हल" र बैल भरतो पेट।।
राणाँ जी करमां रो संगाती, कुल में कोई नहीं।

इस पद में "डीकरा ," "न्यारी-न्यारी","करमां रेख", "सँगाती" आदि लोक-शब्दों के माध्यम से मीरा अपने पक्ष का औचित्य, नियतिवादी सोच का सहारा लेकर स्थापित करती हैं। अतः यहाँ भाषा में प्रतिरोध का स्वर टकराने वाला न होकर"तार्किक" ज्यादा है। यद्यपि यहाँ जितने भी उदाहरण हैं, वे आधुनिक सोच की तार्किक कसौटी पर खरे नहीं उतरते, तथापि इस तरह का नियतिवादी सोच आज भी भारतीय समाज में मौजूद है। जब राणा और मीरा का रिश्ता टकराहट में बदल जाता है तो मीरा के "तर्क" ज्यादा यथार्थ परक हो जाते हैं। वे सीधे-सीधे राणा को जवाब देने लगती हैं -

राणाँजी तें जहर दियो मैं जाणी (टेक)
जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बाराबांणी।।

उस उक्ति में विजयी होने का भाव है कि तुमने तो मुझे मारना चाहा, लेकिन मैं और ज्यादा शक्तिसम्पन्न हो गई। यहाँ दूसरे वाक्य की भाषा में बिम्बपरकता है। मीरा कहती हैं कि मैं अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हो गई हूँ। मुझे मालूम है कि आपने मुझे मारने के लिए जहर दिलवाया, लेकिन मैं कंचन की तरह इससे और शुद्ध हो गई और इससे "बाराबांणी" बाहर निकल गई। यहाँ देखने की बात है कि मीरा ने जिस काव्यभाषा की सर्जना की है, उसमें "निकसत बाराबांणी" जैसे शब्दों के प्रयोग से पता चलता है कि मीरा अपने समय के लोक-व्यवहार के कितनी समीप थीं। इससे आगे भी वे कहती हैं -

लोकलाज कुलकाण जगत की, दी बहाय ज्यूं पांणी।
अपने घर का परदा कर लो, मैं अबला बौरांणी।।

मीरा के समक्ष "लोकलाज" और "कुलमर्यादा" के तर्क देकर उनको समझाने की पूरी-पूरी कोशिशें की गई थीं किन्तु मीरा ने समझ लिया था कि इन कृत्रिम एवं निरर्थक मर्यादाओं में फँसकर व्यक्ति अपना अहित ही करता है। दरअसल, जो भी मर्यादाएँ समाज ने बना रखी हैं, वे सभी ताकतवर वर्ग के हित में बनाई गई हैं। उनमें समत्व का भाव नहीं है। पुरुष के लिए अलग तरह की मर्यादाएँ हैं तो स्त्री के लिए अलग। इन मर्यादाओं का मतलब है स्त्री का हर तरह से पुरुष की आधीनता में रहना। इसलिए मीरा कहती हैं कि "लोकलाज कुलकाण" को मैंने पानी की तरह बहा दिया है। "पानी की तरह बहाने" में बिम्ब भी है और मुहावरा भी। यही मीरा की तर्क पद्धति है और यही मीरा का सृजन है, मीरा की कविताई है। यहाँ दूसरी पंक्ति का दो टूक जवाब देखिए कि पर्दा करना है तो आपके घर में मेरे अलावा दूसरी औरतें भी मौजूद हैं, उनसे पर्दा करा लो और मुझे एक पागल स्त्री की तरह मानकर मुक्त कर दो। समाज में मेरे बारे में पागल हो जाने की घोषणा कर दोगे तो समाज भी "पागल" को हर तरह के बंधन से मुक्त कर देगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस युक्ति से आप भी बच जाएँगे और आपकी "कुलकाण" भी खण्डित होने से बच जाएगी।

देखने की बात यह है कि मीरा की प्रतिरोध की शब्दावली में सपाटता न होकर वह या तो बिम्बमयी है या फिर मुहावरे की लाक्षणिकता से सम्पन्न। काव्यभाषा के इस रूप में मीरा

की आत्मिक शक्ति का अहसास हमें हर कदम पर होता है। वे इस रूप में अन्य सभी भक्त एवं सन्त कवियों से अलग हैं। कबीर भी कविता में मोर्चा खोलते हैं और मीरा भी, किन्तु दोनों में फर्क़ यह है कि मीरा के मोर्चे की मार निजी स्तर पर सीधी एवं प्रत्यक्ष है। वे मिथ्या धारणाओं, मर्यादाओं और परम्पराओं के साथ व्यक्तिगत शत्रु से लड़ती हैं, जिससे स्वजन-परिजन और समाज उनका शत्रु बन जाता है। आज हम उनके बारे में जो भी धारणा बनाएँ किन्तु निजी स्तर पर एक स्त्री का जीवन आज के पुरुष वर्चस्व वाले समाज में कैसा है, इसी से हम उस समय के समाज की मानसिकता का अनुमान लगा सकते हैं कि मीरा को किस तरह की यातना से गुजरना पड़ा होगा।

इससे स्पष्ट है कि मीरा की प्रतिरोधात्मक काव्यभाषा का मुख्य रूप राजस्थानी भाषा है, किन्तु जहाँ-तहाँ वह ब्रजभाषा से प्रभावित है। सच तो यह है कि उनकी मूलभाषा राजस्थानी होते हुए भी उसे ठेठ राजस्थानी नहीं कहा जा सकता। विषयवस्तु के प्रभाव से या कहें स्वयं मीरा के अपने संस्कार से वह ब्रजभाषा के संस्कार से मुक्त नहीं हो पाती। कहीं-कहीं तो वह पूरी ब्रजभाषा ही हो जाती है। ऐसे अनेक पद हैं, जो ब्रजभाषा के हैं। एक उदाहरण बानगी के तौर पर देखिए -

राणांजी मैं साँवरे रँग राची।
साज सिंगार बाँध पग घुँघरू, लोकलाज तज नाची।।
गई कुमति लई साधन संगति, भक्त रूप भई सांची।।
गाय गाय हरि के गुन निसदिन, काल ब्याल सूं बांची।।
उन बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काची।।
मीरां श्रीगिरधन लाल सूं, भक्ति रसीली जांची।।

इस भाषा रूप के अनेक पद हरनारायण पुरोहित की "मीरां बृहत्पदावली" में संकलित हैं। पुरोहित जी ने उनके 662 पदों का संकलन एवं सम्पादन किया है। इस पदावली ग्रन्थ में सम्पादक का प्रयास रहा है कि मीरा के पदों के वास्तविक पाठ को प्रस्तुत किया जाय। इस दृष्टि से उनकी मूल भाषा राजस्थानी ठहरती है, जो ब्रजभाषा से संस्कारित है। इसके अलावा कहीं-कहीं गुजराती, खड़ी बोली, पंजाबी के प्रभाव भी आ गए हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि मीरा, भाषा को "भाषा बहता नीर" की तरह मानकर चली है। एक प्रवहमान भाषा है उनके काव्य संसार की।

14.6.2 भाव-अनुभूति की काव्यभाषा

मीरा की काव्यभाषा का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष उन पदों में व्यक्त हुआ है, जिनमें वे श्रीकृष्ण के प्रति अपनी प्रेमानुभूति को प्रकट करती हैं। जहाँ प्रतिरोध कम, प्रेमानुभूति अधिक है। ऐसे अवसरों पर मीरा की काव्यभाषा अनेक तरह के रूपकों और अप्रस्तुत विधान से सजी हुई दिखाई देती है। एक पद बानगी के तौर पर प्रस्तुत है -

प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय।
छोड़ गया विश्वास सँगाती, प्रेम की बाती बराय।।
विरह समद में छोड़ गया छो, नेह की नाव चलाय।।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम बिना रहा न जाय।।

मीरा के प्रेमानुभूति से पूर्ण पदों में विरह भाव की अधिकता है। वे श्रीकृष्ण को अपना सच्चा प्रियतम मानकर उनके वियोग में अपनी भावनाओं को व्यक्त करती हैं, जिनमें कहीं विनय का भाव सामने आता है तो कहीं वे कृष्ण लीलाओं को वर्णन करते हुए वे अपने मन को

बहलाती दिखाई देती हैं। वे कृष्ण से संबंधित विभिन्न उद्धारकथाओं का उल्लेख करते हुए अपन मन ढाढ़स बँधाती हैं। इस तरह वे हरेक पद में किसी न किसी बहाने से अपनी प्रेमभावना का इजहार करती चलती हैं। इस तरह के पदों की काव्यभाषा राजस्थानी होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि वह ब्रजभाषा के संस्कार से अछूती है। अतः जिन विद्वानों ने मीरा की काव्यभाषा को केवल राजस्थानी भाषा ही माना है, वे संकलित पदों में स्पष्ट तौर पर व्यक्त ब्रजभाषा के असर की अनदेखी करते हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि मीरा के मन में जिस तरह भक्ति के किसी एक सम्प्रदाय और पंथ के प्रति आग्रह नहीं रहा है, उसी तरह उनका किसी तरह की भाषिक शुद्धता के प्रति भी आग्रह नहीं रहा है। उन्होंने जो कुछ अर्जित किया है, वह साधु-संगति के प्रभाव से अर्जित किया है। अर्जित करने की इसी प्रक्रिया में उनकी मूलभाषा राजस्थानी के संग ब्रजभाषा का प्रवाह भी दो नदियों की तरह मिल गया है। इसी तरह अन्य भाषा-बोलियों के प्रभाव भी आ गए हों, तो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे वे भावानुभूति के स्तर पर स्वच्छन्दता से काम लेती हैं, उसी तरह काव्यभाषा की सर्जना के स्तर पर भी। हम कह सकते हैं कि उनकी काव्यभाषा के तीन रूप प्रमुख हैं - राजस्थानी (मूल भाषा), ब्रजभाषा (अर्जित भाषा), राजस्थानी और ब्रज का मिश्रित रूप।

14.7 सारांश

मीरा की काव्यभाषा का मूलाधार उनकी अपनी मातृभाषा राजस्थानी है, किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं रहना चाहिए कि उनकी राजस्थानी पर ब्रजभाषा का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ है कि वह अवसर के अनुरूप कहीं-कहीं पूरी तरह ब्रजभाषा हो गई है, यद्यपि ब्रजभाषा से भी राजस्थानी का रंग नहीं छूटा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मीरा के मन में भाषायी शुद्धता के प्रति किसी तरह का कोई आग्रह नहीं रहा था, जैसे भावों-विचारों में वे अनेक तरह का मेल करके चलती हैं, उसे ग्रहण कर लेती हैं। वे मूलतः सगुणोपासिका है किन्तु निर्गुण पंथ की शब्दावली और रूपको का भी यथावसर प्रयोग करने से नहीं हिचकतीं। हमारे विचार से उनका जितना बड़ा स्थान राजस्थानी भाषा-साहित्य में होगा, उतना ही बड़ा स्थान ब्रजभाषा-साहित्य में भी रहेगा। इसी तरह गुजरात प्रवास में उनके पदों को लोग गुजराती प्रभाव में प्रयुक्त करने लगे हों तो यह कोई अनहोनी जैसी बात नहीं है। मीरा भी स्वयं अपने पदों को गुजराती में व्यक्त करने लगी हों तो इसमें भी कोई अचरज की बात नहीं है। इस बात से उनके राजस्थानी पद साहित्य का महत्व कम नहीं होता, वरन् और बढ़ता है। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत मीरा की काव्य-भाषा पर पंजाबी, खड़ी बोली, रेख्ता एवं पूरबी बोलियों का प्रभाव आ गया है किन्तु इससे वे इन बोली-भाषाओं की कवयित्री नहीं हो जातीं।

कुछ विद्वान मीरा की काव्यभाषा के संबंध में यह मानते हैं कि उनकी काव्यभाषा में सर्जनात्मकता का पक्ष कमजोर है। सूर और तुलसी जैसी काव्यभाषा उनके यहाँ नहीं मिलती। इस बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि मीरा की काव्यभाषा की सर्जनात्मकता की हमारी कसौटी को हमें बदलना होगा। उनकी काव्यभाषा को हमें भावाभिव्यक्ति के प्रकाश में देखने की जरूरत है, जो सीधे हृदय से झरने की तरह प्रवाहित हुई है। इसमें ही उन्होंने अपनी बात को कहने की जो युक्तियाँ अपनाई हैं और लोक-रूपकों की सर्जना की है, वही उनकी लोकपरक काव्यभाषा की सबसे बड़ी ताकत है और वहीं उनकी अपनी सर्जनात्मकता का विशिष्ट पक्ष है। उसे किसी अन्य कवि की काव्यभाषा की कसौटी पर कसकर देखना उनकी अपनी दृष्टि के साथ अन्याय करना है।

14.8 अभ्यास प्रश्न

1. मीरा के समय और उनकी काव्यभाषा के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
2. मीरा की काव्यभाषा के आधार एवं स्रोतों की विवेचना कीजिए।
3. मीरा की काव्यभाषा के दो महत्वपूर्ण रूपों को समझाइए।
4. मीरा की विविधरूपा काव्यभाषा में "प्रतिरोध की काव्यभाषा" की सोदाहरण विवेचना कीजिए।
5. मीरा की विविधरूपा काव्यभाषा में "भावानुभूति" के पक्ष पर प्रकाश डालिए।
6. मीरा के पदों की मुख्यभाषा को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 मीरा की प्रमुख कविताओं का विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 मीरा का काव्य

15.3 मीरा की कविताओं के विश्लेषण संबंधी कुछ विशिष्ट बिन्दु

15.4 कविताओं का विश्लेषण

15.5 सारांश

15.6 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

यह इकाई मीरा की कविताओं के विश्लेषण पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- मीरा की कविता की विशेषताओं को समझ सकेंगे;
- मीरा की कविता को विश्लेषित करने से पहले जानने वाले मुख्य बिन्दुओं से परिचित हो सकेंगे;
- मीरा की कविताओं का अर्थ कर सकेंगे; और
- मीरा की कविताओं का विश्लेषण करने में समर्थ हो सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

मनुष्य चेतना का पारदर्शी चिंतन और पैनापन कविता के माध्यम से व्याख्यायित-विश्लेषित होता है। कविता जहाँ तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विद्रूपताओं को उजागर करती है वहीं मानवीय संबंधों की कसमसाहट को रूपायित कर मनुष्य मात्र से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करवाती है। किसी भी रचनाकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह युगदर्शी हो तथा समाज में हो रहे परिवर्तनों को खुली आँखें से देखे। मीरा को तत्कालीन परिवेश ने ऊपर से नीचे तक झकझोर दिया था। मीरा के काव्य का स्रोत उनके भीतर की वेदना रही है। मीरा स्त्री थी और उनके द्वारा रचित कृष्ण भक्ति में सराबोर पद लोगों को अपनी ओर आकृष्ट तो कर रहे थे, लेकिन पुरुषसत्तात्मकता का प्राचीनता के प्रति संस्कारगत मोह उनके रास्ते की सबसे बड़ी बाधा थी। वेदना जहाँ किसी भी समय के मनुष्य की शाश्वत पीड़ा रही है वहीं वेदना से उपजा विद्रोह उसके जीवित रहने तथा स्वयं को स्थापित करने का संघर्ष भी है। जब किसी व्यक्ति के द्वारा बनी-बनाई प्राचीन मान्यताओं को चुनौतियाँ दी जाती हैं तब सामाजिक ताने-बाने में एक अलग तरह की उथल-पुथल मच जाती है। मीरा ने एक स्त्री, और वह भी राज घराने की स्त्री होकर मान्यताओं-परंपराओं की चुनौती दी।

एक ऐसे समय में जब किसी स्त्री के पास सीमित धार्मिक अधिकार हों और पूजा-पाठ में उसकी भूमिका की हदबंदी कर दी जाए तब मध्युयगीन समाज में मीरा द्वारा ऐसा करने का साहस दिखाना जिससे पुरुष सत्तात्मकता की शताब्दियों पुरानी दीवारों में झंकार उत्पन्न हो जाए वह मीरा की संकल्प शक्ति की एक बानगी मात्र है। लेकिन मीरा की इस एक बानगी ने स्वयं उन्हें कितना उत्पीड़ित किया, आक्षेप सहने पड़े तथा पारिवारिक कलह की वजह से उनके अहम् को बार-बार आहत होना पड़ा उसका दर्द और उस दर्द से उपजी संवेदना उनके काव्य में एक ठोस लावे के रूप में विद्यमान है। मीरा ने तत्कालीन समाज और उसकी रूढ़ि परपराओं के विरोध में आवाज़ उठाई। कुछ समय के लिए तो लोगों को यह एक परिहास का विषय लगा लेकिन इसी परिहास ने मीरा को विलक्षण व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित किया। आज की स्त्री जो, आधुनिकता के समस्त यंत्रों से युक्त होने के बावजूद अशिक्षा, असुरक्षा तथा असुविधाओं के दायरे में रहने को मजबूर है, वहीं 16वीं सदी की मीरा का संघर्ष कितनी असह्य पीड़ाओं के साथ आगे बढ़ा होगा इसका सहज अनुमान लगा पाना मुश्किल लगता है। उन्हें भक्ति की आज़ादी पाने के लिए अपने घर, परिवार को छोड़ना पड़ा। मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था में जहाँ पुरुष ही साधु-संतों की सत्संगति में उठ-बैठ सकते थे, वहीं मीरा ने उस समय की सामाजिक और पारिवारिक वर्जनाओं का उल्लंघन कर साधु-संतों की संगति में कीर्तन एवं नृत्य किया। उनकी रचनाओं में निहित वेदना और विद्रोह में हम उनके स्त्री होने को विषमता को देख सकते हैं।

15.2 मीरा का काव्य

मीरा का चिंतन उनके अपने वास्तविक अस्तित्व को स्थापित करता है। भक्ति काल के प्रत्येक भक्त कवि किसी न किसी नैसर्गिक गुणों से युक्त हैं। मीरा भी उन्हीं में से एक हैं। वह भी अपनी कुछ निजी विशेषताओं की वजह से ही एक अलग व्यक्तित्व का निर्माण कर पाई हैं। उनका यह अलग दिखाई देने वाला व्यक्तित्व ही उन्हें उस समय के समाज में एक विशिष्ट पहचान देता है। यही विशिष्ट पहचान मीरा को अन्य भक्तिकालीन कवियों से अलग करती है। मीरा ने सदियों से चले आ रहे सामाजिक रहन-सहन, परंपरागत सिद्धांत और बौद्धिक एवं मानसिक भक्ति-साधना के रूपों को अपनी सरल-सहज भक्ति साधना से तरल किया । उनका जीवन अनेक कष्टों से भरा रहा लेकिन कृष्णानुराग के आह्लाद ने उन्हें विचलित नहीं होने दिया। कृष्ण के प्रेम में मीरा को सत्संगति से विरत करने के लिए डराया-धमकाया भी गया और नाना प्रकार के कलंक भी लगाए गए। मीरा की रचनाएँ अपने तरह की अकेली रचनाएँ हैं। उनका दर्द एक आतुर भक्त, तपस्वी का दर्द है। उनके अनुसार आध्यात्मिक सत्य, अनुभूति में छिपे हैं। अनुभूति के अनुसरण में ही मीरा को अपनी आध्यात्मिक सत्यता की कई बार अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। सत्यता की कसौटी पर बार-बार सफल होने के बाद भी वियोग की पीड़ा को उन्होंने पल-पल अपने भीतर झेला है और तिल-तिल करके जीया भी है। उनके पदों में असंगत परंपराओं, अंध-विश्वासों, रूढ़ियों आदि कुरीतियों पर तीव्र प्रहार भी मिलता है। साथ ही उनकी मानवीय चेतना का आधार कृष्ण भक्ति का सामाजिक स्वरूप भी प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः वेदना, प्रेम, का सार्वकालिक मूल्य है। इसके आधार पर ही जीवन को गहराई से अनुभव किया जाता है। यही अनुभव मानवीय संवेदनाओं को जीवित रखता है। प्रेम के कारण ही मानवीय संदेवनाएँ निखर पाती हैं भले ही मीरा को तत्कालीन परिवेश में सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई हो किन्तु कालांतर में उनकी भक्ति एवं तद्जन्य भावों को स्वीकार करना ही पड़ा। उन्हें अपने तत्कालीन समाज से लोहा लेना ही पड़ा। ऐसे

समाज में जहाँ स्त्री को, वह भी राजकुलीन स्त्री को समाज में घूम-घूम कर अपनी बात कहने का अधिकार नहीं था। मीरा का अपनी अस्मिता को पहचानने का प्रयास उस समय की सामाजिक व्यवस्था के संतुलन हेतु बड़े प्रश्न के रूप में दिखाई देता है।

15.3 मीरा की कविताओं के विश्लेषण संबंधी कुछ विशिष्ट बिन्दु

कविता का विश्लेषण करने से पहले मीरा के संदर्भ में कुछ विशेष बातें आपको जाननी समझनी होंगी।

- मीरा का जन्म - 1498 के आसपास और मृत्यु - 1546 के आसपास हुई। उनका बचपन मारवाड़ के मेड़ता में बीता और मृत्यु गुजरात स्थित द्वारिका में मानी जाती है।

- मीरा एक स्त्री थीं। हम उनकी कविता को एक स्त्री की कविता के रूप में पढ़ते हैं। निश्चय ही संत और भक्त तो वे हैं ही परंतु इसके साथ-साथ उनकी कविता में उनके स्त्री होने का एहसास भी हमें बार-बार दिखाई देता है। इसीलिए स्त्री की लाचारी और विवशता की छवियाँ हमें उनकी कविता में दिखाई देती हैं। वस्तुतः उनके स्त्री होने का यह एहसास ही उन्हें आज के स्त्री विमर्श से जोड़ता है आज स्त्री विमर्श की लेखिकाएँ पुरुष और स्त्री के साहित्य में जो अंतर करती हैं वह मूल अंतर है, अपनी यातना, कष्ट तथा अनुभूत को स्वयं शब्द देना। इस संदर्भ में अगर हम मीरा से पूर्व की ओर जाएँ तो पाएँगे कि स्त्री के संदर्भ पहले जो कुछ भी लिखा गया, वह पुरुषों द्वारा ही, जैसे सीता, द्रौपदी, शकुंतला आदि के संदर्भ में। उन रचनाओं में स्त्री को सहानुभूति मिली, संवेदना मिली परन्तु मीरा के यहाँ जो कुछ है वह उनका अनुभूत है, उनकी आत्माभिव्यक्ति है। उनका भोगा गया तथा सहा गया है। स्त्री -पुरुष के भेद को उन्होंने मिथ्या माना। वे स्वयं को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करना चाहती थीं। इसीलिए वे न तो सती हुईं, न पर्दा किया और राजमहल छोड़कर, सामंतवादी व्यवस्था को छोड़कर सामान्य लोगों के साथ घूम-घूम कर अपनी बात कही।

- मीरा मध्यकाल की थीं। उस समय स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होती थीं, पर्दा करती थीं, मर्यादा-अनुशासन से रहती थीं जिससे आज भी हम संघर्ष कर रहे हैं। उन्हें राह में घूमघूम कर अपनी बात कहने का भी अधिकार नहीं था।

- मध्यकालीन होने के साथ-साथ मीरा राजपूत परिवार से संबद्ध थीं। वे सामान्य परिवार की नहीं थीं। उनका लालन-पालन विशेष राजसी अनुशासन में किया गया था। एक सामंतवादी व्यवस्था में वह पली-बढ़ी थी। इस सामंतवादी व्यवस्था में स्त्रियों पर जो पाबंदियाँ लगाई गईं वे सब मीरा के लिए भी थीं।

- मीरा मध्यकालीनता से ऊपर उठीं। उन्होंने मध्ययुगीन मानसिकता को नहीं माना। वे रैदास से मिलीं ज्ञान प्राप्त करने के लिए। उन्होंने माना कि उन्हें अपनी बात कहने का अधिकार है। यही लोकतंत्र है। लेकिन उन्हें पागल करार दिया गया। वे स्वयं ही अपने को भी "बावरी" कहने लगीं। समाज की उन्होंने परवाह न की।

- मीरा सामंतवाद से भी ऊपर उठीं। सामंतवादी और राजशाही व्यवस्था से उन्होंने विद्रोह किया और साफ-साफ कहा "राणा म्हारो का कणसीं"। वे पुरुषवादी व्यवस्था से भी बाहर निकलीं और उन्होंने अपने मन की बात मानकर इस इच्छा को व्यक्त

भी किया कि गिरिधर के बिना वह एक पल भी नहीं रह सकतीं। उस युग में इस तरह के निर्णय का अधिकार केवल पुरुषों के पास था। मीरा की कविता पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था के इस अधिकार को चुनौती देती है।

15.4 कविताओं का विश्लेषण

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक ही मेरे सतगुर, किरपा कर अपनायो ॥ 1
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो ॥ 2
खरचै नहि कोई चोर न लेवे, दिन दिन बढ़त सवायो ॥ 3
सतकी नाव खेवटिया सतगुर, भव सागर तर आयो ॥ 4
मीरां के प्रभु गिधरनागर, हरष हरष जस गायो ॥ 5

इस पद में मीरा कहती हैं कि उन्होंने 'राम' रूपी रत्न को प्राप्त कर लिया है। उनके सतगुरु ने उन्हें यह अमूल्य वस्तु दी है। राम नाम रूपी रत्न धन के रूप में मीरा ने जन्म जन्मांतर की पूँजी पा ली है, लेकिन इसके लिए उसे वह सब कुछ गँवाना पड़ा जो उसे इस संसार ने दिया था अर्थात् परिवार, कुल, संबंधी आदि कोई भी उसके न रहे। परंतु यह जो 'राम' रूपी धन उन्हें प्राप्त हुआ है वह ऐसा धन है जो न तो खर्च होता है और न ही इसे कोई चोर चुरा सकता है। यह तो दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है। मीरा अपने सतगुरु को खेवटिया मानती हैं जो सत्य की नाव को चला रहे है और इस नाव के माध्यम से मीरा भवसागर ही तर गई हैं। अंत में मीरा स्पष्ट रूप से कहती है कि मीरा के प्रभु तो गिरधर नागर हैं, जिनका वह आह्लादित होकर यशगान कर रही हैं।

मीरा का यह पद उनका आरंभिक पद प्रतीत होता है। जब उन्होंने भक्ति के लिए कृष्ण को या इस पद में जिसे 'राम' से संबोधित करती हैं उसे प्राप्त किया। उन्होंने ईश्वर से अपने संबंध भाव को इस पद में व्यक्त किया गया है। इसमें न तो विरोध की अग्नि है न विद्रोह की आँच। मीरा सरल शब्दों में सामान्य तर्कों के रूप में अपनी बात कहती हैं। इसलिए यह पद उनकी आत्माभिव्यक्ति है। मीरा अपने सतगुरु की आभारी हैं। यहाँ सतगुरु और ईश्वर एक ही हैं। मीरा कहती है कि इस ईश्वर ने मुझे स्वीकार कर लिया, यह बड़ी बात है, मैंने ईश्वर को स्वीकार किया या भक्ति स्वीकार की यह बड़ी बात नहीं हैं। मैं ईश्वर के समक्ष कुछ भी नहीं। मुझे जो अपनाया उसके कारण मैंने राम रूपी रत्नों का धन प्राप्त कर लिया।

धन के संदर्भ में, मध्यकाल में और आज भी दो तीन सबसे बड़ी चिन्ताएँ हैं। मीरा यहाँ उनका भी जिक्र करती हैं कि धन खर्चने से समाप्त हो जाता है या कभी-कभी इकट्ठे किए गए धन को चोर उचक्के या ठग लेकर भाग जाते हैं। मीरा के समय में बैंक आदि की व्यवस्था नहीं थी इसलिए सभी व्यक्तियों को इस धन को सुरक्षित रखना बड़ी समस्या लगती थी। आज इस धन को आधुनिक अर्थशास्त्री पूँजी में रूपान्तरित करके इसे बचाने की युक्तियाँ बताते रहते हैं। उस जमाने में भी धन को बढ़ाते रहने की चिन्ता लोगों में स्वाभाविक थी। मीरा ने इस स्वाभाविक चिन्ता को अपनी रचना का आधार बनाया और इस लौकिक धन से 'राम' रूपी अमूल्य धन की तुलना की। मीरा इन पंक्तियों में 'पूँजी' शब्द का प्रयोग करती है। यह पूँजी अमूल्य है अर्थात् मूल्यों से परे है। जो खर्चने से समाप्त नहीं होती, चोर उसे चुरा नहीं सकता और यह लगातार बढ़ती रहती है। ऐसी ही पूँजी सभी धनवानों को अपेक्षित होती है। मीरा इसी समाज की सदस्य थी। उन्होंने

अपने समाज की इस चिन्ता को देखा था, समझा था अतः इस समाज को अपनी बात स्पष्ट रूप से समझाने के लिए मीरा ने उनके ही तर्क का प्रयोग किया।

प्रसंगार्थ मीरा यह भी बताना चाहती है कि मैंने कोई घाटे का व्यापार नहीं किया। ईश्वर भक्ति में कोई नुकसान नहीं है इसलिए वे अपने समझाने वालों को समझाती है कि 'राम' रूपी धन मैंने नासमझी में इकट्ठा नहीं किया। यह समझ बूझ कर किया गया है इसलिए तुम लोग मेरी चिन्ता मत करो। अपनी चिन्ता करो। तुम जो अपने धन के बारे में हमेशा चिन्तित रहते हो, इस चिन्ता से मुक्ति का यही एक उपाय है कि संसार के झूठे धन को छोड़कर अलौकिक धन को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

इसके बाद मीरा परमेश्वर को या सतगुरु को संबोधित करती है। यहाँ उनका व्यक्तित्व समर्पित है। मीरा ईश्वर की आभारी हैं। वे इस आभार को स्वीकार करती हैं और आभार अभिव्यक्त भी करती हैं। उस समय संसार के भवसागर को पार करने के लिए जिस नाव की आवश्यकता पड़ती है वह नाव सत्य की होनी चाहिए। सत्य की नाव बीच सागर में डूबेगी नहीं। फिर केवल नाव ही महत्वपूर्ण नहीं है, नाव को खेने वाला नाविक भी समझदार होना चाहिए। मीरा के जीवन की इस नौका को चलाने वाले खेवटिया स्वयं सतगुरु हैं इसलिए मीरा उसी की कृपा से भवसागर से पार हो जा रही है। अतः वह गिरधर नागर के यश का 'हरष हरष' कर गान करती रहती है।

मीरा के इस पद में किसी तरह का आवेग नहीं है। एक तथ्य कथन की तरह से यह पद आगे चलता है। यहाँ तथ्य कथन तो है परन्तु अपनी मान्यता के प्रति मीरा की दृढ़ता भी व्यंजित होती है। मीरा की बेपरवाही यहाँ छुपी हुई है। यदि कोई आगे तर्क करेगा तब आक्रामक बेपरवाही अभिव्यक्त होगी, अभी नहीं। अभी तो मीरा केवल अपनी बात कर रही हैं। यह बातें या तो वह अपने आप से कह रही है या अपने उन मित्रों या जानने वालों को कह रही है जो मीरा के विरोधी नहीं हैं, जो मीरा को जानना-समझना चाहते हैं। अगर आप भी मीरा को जानना चाहते हैं, समझना चाहते हैं, तो यह पद मीरा की अभिव्यक्ति के रूप में है। अगर आप बहस करते हैं तो उसके प्रत्युत्तर में मीरा के पास दूसरे पद भी हैं। फिर आप विरोधी हैं या शुभचिन्तक, मीरा किसी की चिन्ता नहीं करती और अपनी मान्यता प्रकट करती है।

करनां फकीरी क्या दिलगीरी, सदा मगन मन रहना रे ।
कोई दिन बाड़ी हो कोई दिन बँगला, कोई दिन जंग रहना रे ॥
कोई दिन हाथी कोई दिन घोड़ा, कोई दिन पांवों से चलना रे ॥
कोई दिन गादी कोई दिन तकिया, कोई दिन भोय में पड़ना रे ॥
कोई दिन खाना तो कोई दिन पीनां, कोई दिन भूखे ही मरना रे ॥
कोई दिन पहनाँ तो कोई दिन ओढ़ा, कोई दिन चिथरा पथरना रे ॥
मीरां कहै प्रभु गिधरनागर, ऐसा कूँता धरना रे ॥

मध्ययुगीन राजस्थानी समाज धर्म प्रधान था इसलिए भक्ति में ईश्वर में अनुरक्ति और उसके प्रति आत्म-समर्पण स्वाभाविक ही है। इस स्वाभाविकता का एक कारण यह भी है कि कृष्ण भक्ति में मीरा का प्रेम निष्काम, निःस्वार्थ तथा अलौकिक है। उनका वास्तविक विरोध लौकिक मोह माया के जंजाल से है। वह फकीरी के महत्व को समझाते हुए कहती है कि सभी तरह की लौकिक भावनाओं यथा अमरता, स्वार्थ, ईर्ष्या, मृत्यु, स्वर्ग, नर्क आदि के मोह को छोड़कर सदा ही मगन मन के साथ जीवन जीना चाहिए। इससे बौद्धिक स्तर तो ऊँचा होगा ही साथ ही फक़ीरी में मगन मन नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाओं से भी बच जाएगा। इसलिए वह कहती हैं कि जब फकीरी ही करनी है तो ग़म कैसा, मनुष्य को सदा खुश रहना चाहिए। उक्त पंक्तियों में यह भी बताने का प्रयास है कि आम जन

अपनी अस्मिता सुरक्षित रखने के लिए जो पल-पल संघर्ष कर रहा है उससे अच्छी तो साधु-संतों भी संगति है जो एक सच्चा मार्ग दिखाती है। जिस प्रकार घास का पैदा होना या न होना कोई खास मायने नहीं रखता, वह उग भी जाए तब भी उसकी कोई पहचान नहीं रहती, न ही उसे किसी प्रकार की कोई प्रतिष्ठा मिल पाती है। ऐसे जीवन से अच्छा है कि संतों-साधुओं की संगत में रहें और दुनिया के तमाम मोह, माया को त्याग कर फकीर की तरह अलमस्त जीवन जीएँ। जिससे किसी प्रकार का न दुःख होगा न ही खुशी। हाँ, शांति अवश्य मिलेगी, अर्थात् प्राणी दुख में दुख और सुख में सुख की अनुभूति से ऊपर उठ जाएगा।

"कोई दिन बाड़ी तो कोई दिन बंगला, कोई दिन जंगल रे" में मीरा स्पष्ट कहती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं का अब उनके जीवन में कोई महत्व नहीं। क्योंकि भक्ति में लीन मानव सदैव एक-सा महसूस करता है और एक-सी स्थिति में रहता है। उसके लिए बाड़ी का भी वही महत्व है जो बंगले का है। जीवन की चकाचौंध भी उसे प्रभावित नहीं करती क्योंकि उसके भीतर ही ज्ञान/भक्ति रूपी प्रेम की इतनी परतें खुली रहती है जिसके सहारे उसे जंगल भी जंगल नहीं लगता। मीरा की दृष्टि में महल, जंगल, जीवन इत्यादि सब नष्ट होने वाली चीज़ें हैं। वे यह मानती हैं कि प्रेम, भक्ति के अभाव में व्यक्ति अनाम ही मर जाता है। न उसके जीवन काल में कोई उसे जानता है और न ही उसकी मृत्यु पर कोई पश्चाताप करता है। सांसारिक दुखों का वास्तविक कारण हमारी महत्वाकाक्षाएँ हैं। कालांतर में जब आँखें खुलती हैं तब मनुष्य देख और समझ पाता है। जीवन की निस्सारता एवं काल्पनिकता को समझने का यह अंतिम अवसर होता है।

मीरा का संबंध राजकुल से था। राजकुल, राजशाही शानबान हाथी घोड़ों आदि की सवारी से भी संबद्ध था। लेकिन मीरा ने कृष्ण के प्रेम में दीवानी होकर राजशाही का परित्याग कर दिया था। ऐसा इसलिए भी क्योंकि वे कृष्ण को ही अपना सर्वस्व मानती थीं और उन्होंने सती होने से इंकार कर दिया था। ऐसी स्थिति में अब उनके पास हाथी घोड़े की सवारी के साथ-साथ अन्य सुख-सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं थी। मीरा उन सुख-सुविधाओं के प्रति अनासक्त हैं। अपनी अनासक्ति को प्रकट करते हुए वे विराग भाव से कहती हैं कि अब जब समय दूसरा है तो पाँव से चलने या पैदल चलने में क्या बुराई है। वह बाड़ी, बँगला, हाथी, घोड़ा आदि को सामाजिक तथा सतही रूप में देखती हैं। यदि भक्त कुछ ही क्षणों के लिए अपने में सिमट कर अपनी आंतरिकता को जगा ले तो उसमें भक्ति की सच्ची चेतना जागृत हो सकती है।

वे यह मानती हैं कि फकीर को किसी प्रकार के भौतिक संचय की आवश्यकता नहीं होती। वह तो किसी से किसी तरह की अपेक्षा भी नहीं रखता न ही वह किसी से कुछ माँगता है। फक़ीर तो अपने में लीन भौतिक सुखों से दूर अपने भीतर की शांति को लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता-फिरता रहता है। फकीर किसी भी सुख सुविधा के प्रति विरक्त होता है। भौतिक सुखों से उसे कुछ लेना देना नहीं। अतः वह कुछ मिलने पर हर्षित भी नहीं होता है और न किसी चीज़ के खो जाने पर दुखी। अर्थात् वह किसी से किसी प्रकार की कोई अपेक्षा ही नहीं रखता।

गोबिन्द का गुण गास्यां।
रणोजी रूसैला तो गांम राखैला, हरि रूठयां कुमलास्यां ॥ 1
राम नाम की जहाज चलास्यां, भवसागर तिर जास्यां ॥ 2
चरणामृत को नेम हमारो, नित उठि दरसण पास्यां ॥ 3
विषरा प्याला राणोजी भेज्या, इमरत करि गटकास्यां ॥ 4
यो संसार बिनास जानिकै, ताको संग छिटकास्यां ॥ 5
लोक लाज कुल काणिहु तंलिकै, निरभै निसांण-घुरास्यां ॥ 6
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी, चरण कमल बलि जास्यां ॥ 7

मीरा इस पद में स्पष्ट रूप से घोषित कर रही हैं कि वे तो गोविन्द का ही गुणगान करेंगी। उन्हें यह भी विश्वास है कि उनके ऐसा करने से यदि राणा को क्रोध आता है और वह उन्हें महल से निष्काषित भी कर देता है तो उनका अपना गाँव उन्हें रख लेगा। लेकिन यदि हरि उनसे रूठ जाएँगे तो मीरा को बहुत कष्ट होगा और वह कुम्हला जाएँगी। मीरा राम नाम की जहाज चलाकर इस भवसागर को पार कर लेने की बात भी कहती हैं। उन्हें और किसी की आवश्यकता नहीं है। हरि के चरणों का अमृत ग्रहण करना उनका नियम है और वे नित्य उठकर हरि के दर्शन करेंगी। राणाजी ने तो उन्हें मारने के लिए विष का प्याला भेजा परन्तु वे अमृत मानकर उसे पी गईं। वे कहती हैं कि यह संसार विनाश का कारण है इसलिए इस संसार से दूर जा रही हूँ। वे यह घोषणा भी करती है मैं लोक लाज, कुल-मर्यादा को त्यागकर निर्भय और निःशंक होकर भजन करती रहूँगी। मुझे किसी का डर नहीं है क्योंकि राम नाम की जहाज मेरे पास है। अंत में मीरा कहती हैं कि उनके हरि अविनाशी हैं, उनका विनाश नहीं हो सकता। वे उनके चरण रूपी कमलों पर बलिहारी हो रही हैं।

मीरा का यह पद सामान्य कथन की तरह से प्रारंभ होता है जैसे मीरा घोषणा कर रही है। इस घोषणा में मीरा की निडरता बोल रही है। 'कोई क्या कर लेगा' वाला भाव मीरा की कविता में बार-बार अभिव्यक्त होता है। और यही निडरता इस पद की आत्मा है।

मीरा से कुछ लोग तर्क करते होंगे, समझाते होंगे, उसे डराते-धमकाते होंगे कि उसके इन क्रिया-कलापों से राजा नाराज हो जाएगा। सामन्तवाद में राणा जी का नाराज होना बहुत बड़ी बात होती थी। राणा के पास बहुत ताकत थी और जो इतनी बड़ी शक्ति है उसे मीरा अपने पद में एक अदना सा पात्र बना देती है। वह जानती है और स्वीकार भी करती है कि उसके इन कार्यों से राणा नाराज हो ही गया है। लेकिन वह मानती है कि राणा जी अगर रूठेगा तो उसका अपना गाँव अपने पास रखेगा लेकिन यदि हरि रूठ गए, भगवान रूठ गए तो मीरा कुम्हला ही जाएगी। यहाँ 'कुम्हला' जाना बहुत काव्यात्मक है। जैसे फूल कुम्हला जाता है वैसे ही मनुष्य का व्यक्तित्व भी मुरझा जाता है। मीरा अपनी कविता में स्वच्छंद, निश्चिंत और प्रसन्न रहती है। उसे ईश्वर पर भरोसा है। वह राम-नाम रूपी जहाज से इस भवसागर को पार करने में विश्वास करती है। यह विश्वास मीरा की शक्ति है।

राणा जी ने जहर का प्याला भेजा ताकि मीरा की मृत्यु हो जाए लेकिन मीरा कहाँ मरी उसे अमृत समझकर पी गई। कुछ हुआ ही नहीं। शत्रु के सभी वार खाली जाते हैं। मीरा मानती है यह संसार तो नष्ट होने वाला है। अतः इन सांसारिक संबंधों का मीरा त्याग करती है। लोक की लाज और कुल की मर्यादा को मीरा छोड़ चुकी है। मीरा के तेवर विद्रोही हैं। लोक और कुल को वह चुनौती दे रही हैं, और खुली चुनौती दे रही हैं। इस चुनौती के साथ निर्भय और निःशंक होकर राम नाम का भजन कर रही है। पद के अंत में मीरा ईश्वर की असीम शक्ति में विश्वास प्रकट करती है। यहाँ वह आर्त्त प्रार्थना करने लग जाती हैं। मीरा की इस कविता में तथ्य कथन, आवेग, विरोध, निर्भयता और शरणागत जैसे सभी भाव घुले मिले हैं।

'अपणा गिरधर कै कारणै, (वा) मीरा वैरागण हो गई (रे) (टेर)
जबतै सिर पर जटा रखाई, नैणां नींद गई (रे) ॥ 1
दंड कमंडल और गूदड़ी, सिर पर धार लई (रे) ॥ 2
छापा तिलक बनाये छबि कों, माला हाट रही (रे)॥ 3
दोउ कुल छांड भई वैरागण, हरि सों टेर दई (रे) ॥ 4
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, गोविन्द सरण भई (रे) ॥ 5

मीरा ने कृष्ण के कारण वैराग्य धारण कर लिया है। उनके कृष्ण गिरधर हैं, गिरि को धारण करने वाले अत्यंत समर्थ और शक्तिवान हैं। इस वैराग्य में मीरा ने सिर पर जटा धारण कर ली है। दिन रात अपने कृष्ण का ध्यान करते-करते उनके नेत्रों से नींद भी दूर चली गयी है। इस वैराग्य की अन्य छवियाँ भी मीरा के इस पद में दृष्टिगत होती हैं, जैसे मीरा ने जटा रखने के साथ-साथ दंड और कमंडल भी हाथ में ले लिया है और अपने सिर पर राजसी वस्त्र धारण न करके गूदड़ी ओढ़ ली है। यह गूदड़ी, कमंडल और दंड एक ऐसे साधु की वस्तुएँ है जो दीन-दुनिया त्याग चुका है और वैरागी हो गया है। मीरा ने इस वैराग्य में अपने माथे पर छापा तिलक लगा लिया है और दिन रात कृष्ण के नाम की माला हाथ में लेकर जपती रहती हैं। आगे मीरा कहती हैं कि वे अपने माता-पिता और ससुराल, दोनों के कुलों को त्याग कर वैरागी हो गईं हैं और ईश्वर का नाम, जप, स्मरण करती रहती हैं।

इस पद में मीरा अपने व्यक्तित्व की घोषणा करती है। वह अपनी घोषणा में उन सभी बातों पर जोर देती है जो सामाजिक रूप से स्वीकृत नहीं हैं, जैसे एक कुलवधू का कुल और परिवार को त्यागकर साधु बन जाना और ऐसी वस्तुओं का धारण करना जो शरीर को कष्ट तो देती ही हैं साथ ही एक स्त्री के लिए सामाजिक रूप से स्वीकृत नहीं है। यहाँ मीरा स्पष्ट करती हैं कि उनका भौतिक सुख सुविधाओं से भरा जीवन अब समाप्त हो गया है और वे एक नए जीवन में प्रविष्ट हो गईं हैं जो विराग से पूर्ण है। मीरा समाज को एक चुनौती भी दे रही हैं। मीरा ने वैराग्य धारण कर लिया है और समाज उसका कुछ नहीं कर सकता क्योंकि अब मीरा हानि लाभ से ऊपर उठ चुकी हैं। उसे किसी नुकसान की परवाह नहीं है।

भक्तिकाल में जो साधु वैराग्य ले लेते थे उनकी पहचान सिर पर जटा, हाथ में दंड कमंडल और माला, माथे पर छापा तिलक और गूदड़ी धारण करना था। वे माया-मोह, सुख-दुःख, परिवार, समाज से दूर हो जाते थे। जीवन के सुखों की उन्हें अपेक्षा नहीं होती थी। मीरा एक स्त्री थीं। उस युग में एक स्त्री के लिए उसका परिवार और कुल बहुत अधिक अहमियत रखता था। आज भी यदि स्त्री कोई व्यक्तिगत निर्णय लेना चाहती है तो उसे पहले अपने कुल और परिवार के बारे में सोचना पड़ता है, साथ ही समाज के बारे में सोचना पड़ता है। उसका कोई भी निर्णय अकेले उसका नहीं हो सकता। लेकिन आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व मीरा ने वैराग्य का निर्णय लिया और इस व्यक्तिगत निर्णय में उन्होंने अपने कुल, परिवार, समाज सबको त्याग दिया। उस काल में ऐसा निर्णय एक नारी के लिए लेना, बहुत महत्वपूर्ण बात थी और वैराग्य लेकर पुरुष साधु समाज की तरह जटा, दंड, कमंडल, गूदड़ी तथा छापा तिलक धारण करना तो और भी क्रान्तिकारी था। लेकिन मीरा का प्रेम कृष्ण के प्रति इतना समर्पित था, वे कृष्ण को इतना अपना मानती थीं कि उस प्रेम के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया। यह पूरा पद मीरा की शक्ति को दर्शाता है। मीरा की यह शक्ति आध्यात्मिक और मानसिक दोनों प्रकार की है। वह समाज को खुली चुनौती दे रही हैं और उनके मन में किसी प्रकार का भय नहीं है क्योंकि उन्होंने अपनी एक अलग सत्ता बना ली है और वे जिसके साथ प्रीत की डोर में बँधी हैं वह सर्वशक्तिमान है। इस सर्वशक्तिमान के साथ जुड़ने से मीरा में एक अभूतपूर्व आत्मविश्वास आ चुका है।

घड़ी एक नहिं आवडे, तुम दरशण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूं जीवन होय।। 1
धान न भावै नींद न आवै, विरह सतावै मोय ।
घायल-सी घूमत फिरूँ, मेरा दरद न जाणे कोय।। 2
दिवस तो खाय गमाइयो रै, रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूरतां रै नैण गमाया रोय।। 3

जो मैं ऐसा जानती रै, प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रै, प्रीत करो मत कोय।। 4
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय।। 5

यह पद मीरा की विकट विरह वेदना को व्यक्त करता है। मीरा कृष्ण के प्रेम में व्याकुल है और उनसे मिलने की आस में जी रही हैं। कृष्ण का न मिल पाना मीरा को अत्यंत विचलित कर रहा है। इस पद में मीरा अपने कष्ट और विरह को व्यक्त कर रही है। कृष्ण के दर्शन के बिना मीरा को एक पल भी चैन नहीं है। कृष्ण मीरा के 'प्राण' हैं और जब प्राण ही पास नहीं होगा तो मीरा कैसे जीवित रह सकती हैं। मीरा विरहाग्नि में इतनी दग्ध हैं कि उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है और नींद आने का तो सवाल ही नहीं उठता। उनके हृदय में जो विरह का कष्ट हो रहा है उसे कोई जान या समझ नहीं सकता। उसे सिर्फ मीरा जान सकती है, अनुभूत कर सकती है। मीरा कहती हैं कि दिन तो खाने पीने में गँवा दिया, रात्रि सोने में गँवा दी, प्राण विरह की अग्नि से जलने में गँवा दिया और नेत्र रोते हुए गँवा दिये। आगे चलकर मीरा स्पष्ट रूप से कहती हैं कि जो वे जानतीं कि प्रीत करते से दुःख ही मिलता है, कष्ट ही मिलता है तो वे स्वयं को ही नहीं समझातीं अपितु पूरे नगर में ढिंढोरा पीटतीं कि कोई भी प्रीत न करना। वे सबको इस कष्ट के प्रति पहले ही आगाह कर देतीं। मीरा कृष्ण की राह देख रही है, पूरे रास्ते को साफ कर रही हैं और खड़ी होकर अपने प्रिय का मार्ग तक रही हैं क्योंकि उन्हें आशा है कि उनके प्रिय कभी भी उनसे मिलने आ सकते हैं। अंतिम पंक्तियों में मीरा बड़े ही विनय भाव से कहती हैं कि हे प्रभु तुम कब मिलोगे क्योंकि प्रभु के मिलने से ही अब मीरा को सुख मिलने वाला है और कष्टों से उन्हें मुक्ति मिल पाएगी।

यहाँ मीरा का चिंतन कबीर से कुछ अलग है कबीर भी कहते हैं कि दिन खाने में गँवाया और रात्रि सोने में लेकिन उनका यह चिंतन विरह से पीड़ित नहीं है अपितु वे मनुष्य को व्यर्थ समय नष्ट न करने के लिए आगाह करते है और सही समय रहते परब्रह्म से ध्यान लगाने की बात करते है। जबकि मीरा कृष्ण के विरह में व्याकुल हैं। उनके कृष्ण सगुण-साकार हैं, निर्गुण-निराकार नहीं। वे अपने कृष्ण कॅो पुरुष रूप में पाना चाहती हैं, नेत्रों से उनका दर्शन करना चाहती हैं। उनका, अलौकिक कृष्ण के प्रति लौकिक प्रेम है, इसीलिए वे कहती हैं कि" जो मैं ऐसा जानती रै, प्रीत किये दुख होय। नगर ढिंढोरा फेरती रै, प्रीत करो मत कोय।।" वे कृष्ण की बाट जोहती हैं, उनके आगमन की प्रतीक्षा करते हुए मार्ग साफ करती हैं और याचना करती हैं कि हे मीरा के प्रभु तुम कब मिलोगे क्योंकि कृष्ण से मिलने के बाद ही मीरा को सुख मिलेगा।

मीरा की यह असह्य विरह वेदना प्रभु कृष्ण के प्रति है। वे यह सब निवेदन अपने कृष्ण से करती हैं और समाज को भी उद्‌बोधित करती हैं कि अगर उन्हें पहले से पता होता कि प्रेम दुःख देता है तो वे प्रेम न करने की सलाह देतीं। यद्यपि कृष्ण के प्रति प्रेम उन्हें आत्मविश्वास देता है, उन्हें जीवन शक्ति देता है लेकिन वे अपने सगुण साकार कृष्ण का अब दर्शन करना चाहती हैं। उन्होंने अपने प्रेम के लिए अपना परिवार छोड़ा, कुल का त्याग किया लेकिन तब भी वे घायल नहीं हुईं, उन्हें दर्द नहीं हुआ परंतु यह आध्यात्मिक प्रेम उन्हें घायल करता है। एक बावली स्त्री की भाँति वे घायल हृदय लेकर घूमती हैं और ऐसा करने या कहने में उन्हें कोई संकोच भी नहीं है। समय बीतता जा रहा है और उन्हें अपना प्रिय नहीं मिल रहा। इस व्यथा को व्यक्त करने के लिए वे लोक लाज छोड़कर घूमती-फिरती रहती हैं। कल्पना कीजिए कि भक्तिकाल में एक राजकुल की नारी को लोक लाज त्याग कर, घूँघट खोलकर बावली से घूमते हुए देखकर समाज में क्या विचार आते होंगे लेकिन मीरा उस समाज की परवाह न करते हुए अपनी प्रेम भक्ति में लीन रहीं। चूँकि यह लौकिक

प्रेम नहीं था इसलिए शायद समाज ने उन्हें देखकर भी अनदेखा किया। मीरा के व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता इस पद में दिखाई देती है। मीरा ज्ञान की उस पराकाष्ठा पर भी पहुँच गई हैं जहाँ प्रेमभक्ति के लिए व्यर्थ समय नहीं बचा क्योंकि सामान्य मानव दिन तो खाने में गुजार देता है और रात्रि सोने में। वह अपने प्रिय का स्मरण कब करेगा! लेकिन मीरा न केवल अपने प्रभु का स्मरण करती हैं अपितु दिन रात उनके आने की बाट भी देखती हैं।

अपने प्रिय के प्रति मीरा के प्रत्येक संबोधन में एक अलग अर्थ निकलता है। कहीं तो उनके प्रिय गिरधरनागर है और कहीं सर्वशक्तिमान कृष्ण परंतु इस पद में उनके प्रिय उनके प्राण हैं। अतः वे उन्हें प्रभु कहकर संबोधित करती हैं। प्रभु उनके सर्वस्व हैं।

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे। (टेर)
मैं सपने .तो नारायण की, हो गई आपही दासी रे ।।1
विषका प्याला राणाजी ने भेज्या, पीवत मीरा हांसी रे ।।2
लोक कहे मीरा भई बावरी, बाप कहे कुलनासी रे ।।3
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, हरिचरणां की दासी रे ।।4

इस पद में मीरा घोषणा करती है कि अब वह पग में घुंघरू बाँधकर अर्थात् पूरे साजो सामान के साथ नृत्य कर रही है। उसे अब किसी का भय नहीं है, किसी की परवाह नहीं है। वह तो नारायण यानी कृष्ण को पूर्ण भाव से समर्पित हो गई है और दासत्व रूप ले लिया है। राणा जी ने मीरा के इस रूप को देखते हुए लोक लाज को ध्यान में रखते हुए मीरा की हत्या के लिए विष का प्याला भेजा परन्तु मीरा के लिए वह विष न रहा, अमृत बन गया और मीरा उसे पीकर हँस रही है। सारा समाज मीरा को बावली कह रहा है अर्थात् पागल करार दे रहा है। यहाँ तक कि मीरा के पिता भी उस पर कुलनाशिनी होने का आरोप लगा रहे हैं। लेकिन इन सब से मीरा को कोई अंतर नहीं पड़ता क्यों मीरा के प्रभु तो गिरधर नागर कृष्ण हैं और मीरा हरि के चरणों की दासी हो गई है अर्थात् पूर्ण समर्पित हो गई है।

यहाँ मीरा पैरों में घुँघरू बाँध कर नाचने की बात कहती हैं। घुँघरू बात कर नाचना मतलब पूरी तैयारी के साथ नाचना। यह उसकी, बेपरवाही, तैयारी और आनंदातिरेक का सूचक है। यहाँ मीरा अपने को दूसरा मानकर अपने ऊपर टिप्पणी कर रही है। वह बता रही है कि मीरा ने किस तरह नृत्य किया। नृत्य की कला की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह स्वाभाविक आनंदातिरेक से पैदा होती है। नृत्य करते समय हम उसमें खो जाते हैं और किसी चीज़ का ध्यान नहीं करते। नृत्य की कला एक तरह से मुक्ति की कला है। यहाँ मीरा भी लोकलाज त्याग कर बंधनों से स्वयं को मुक्त कर घुँघरू बाँध कर नाचने की बात कर रही है।

"हो गई आप ही दासी रे" यानी मैं स्वयं ही ईश्वर की दासी हो गई। दास वही होता है जिसे या तो खरीदा जाता है या जबरदस्ती बनाया जाता है। दासी मजबूरी में ही बना जाता है। कोई अपनी इच्छा से दासी नहीं बनता। दासी परतंत्रता की निशानी है। लेकिन यहाँ मामला उलटा है। मीरा अपनी इच्छा से दासी बनी है। वह स्वयं ही दासत्व स्वीकार करती है। जिसे वह प्रेम नहीं करती उसे छोड़ देती है और जो उसका "गिरधर नागर" है, प्रिय है, उसकी दासी तक स्वेच्छा से बनना मीरा को स्वीकार्य है।

"विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीरा हाँसी रे", मीरा इसलिए हँसती है क्योंकि वह जानती थी कि राणा विष का प्याला भेजकर "मीरा" पर वार कर रहा है। मीरा ने इसे राणा का बचपना समझा और हँसी में उड़ा दिया। जिसकी रक्षा ईश्वर करता है उसे कोई मार नहीं सकता। यही "हाँसी" मीरा की शक्ति का, उसकी ताकत का प्रतीक है। वह शत्रु को छोटा, बहुत छोटा और नादान मानती है। इसलिए उसे राणा की शत्रुता

से, उसके वारों से डर नहीं लगता।

"लोक कहते मीरा भई बावरी", "बाप कहे कुल नासी रे" मीरा का व्यवहार कुछ इस तरह का था कि लोग उसे बावरी समझने लगे। उसका व्यवहार सामान्य लोगों की सामान्य बुद्धि में आ ही नहीं रहा था। उसे पागल कहा जा रहा था। पति का घर त्यागना, "संतन ढिंग बैठकर लोकलाज खोना", "पग घुँघरू बाँधना" जैसे कार्य उस समय की स्त्री विशेषकर राजघराने की स्त्री के लिए तो विशेष रूप से मर्यादा-उल्लंघन के कृत्य थे। इसीलिए पिता तक ने उसे कुलनाशिनी की संज्ञा दे दी। उन्हें लोकनिन्दा तो सहनी ही पड़ी साथ ही उस समाज के उत्तराधिकारियों के लिए बीसवीं सदी के कई वर्षों तक किसी लड़की का नाम मीरा रखना वर्जित हो गया था।

घड़ी एक नहिं आवडे, तुम दरशण बिन मोह।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूं जीवन होय।।1
धान न भावै नींद आवै, विरह सतावै मोय।
घायल-सी घूमत फिरूँ, मेरा दरद न जाणे कोय।।2
दिवस तो खाय गमाइयो रै, रैण गमाइ सोय।
प्राण गमायो झूरतां रै, नैण गमाया रोय।।3
जो मैं ऐसा जानती रै, प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रै, प्रीत करो मत कोय।।4
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय।।5

इस पद में पहली पंक्ति का **"आवडे"** शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। "आवडे" का अर्थ है मन नहीं लगना या कल-चैन नहीं पड़ना। परंतु यह ऐसा मन नहीं लगना है जिसका कोई इलाज नहीं। जो लाइलाज है। यह राजस्थानी लोकभाषा का शब्द है। इसका कोई अनुवाद नहीं हो सकता। इसकी व्याख्या भी उस अर्थ की तह तक नहीं जा सकती। यह "मन नहीं लगना" या "चैन न आना", सभी तर्कों से परे है। इसके लिए कोई तर्क नहीं दिया जा सकता कि मन क्यों नहीं लग रहा है, कितना नहीं लग रहा है, लगाना चाहिए आदि आदि। इसे हम सामान्य भाषा में समझा नहीं सकते।

अब आगे मीरा कहती हैं **"तुम हो मेरे प्राण जी,** अर्थात् तुम्हीं प्राण हो, प्राण में बसे नहीं हो बल्कि तुम्ही जीवन हो, अतः तुम्हारे बिना जीवित रहा ही नहीं जा सकता। आगे मीरा अपनी दशा का वर्णन करती है और कहती हैं **"धान न भावै"**, उन्हें भोजन भी नहीं भाता है, अच्छा नहीं लगता। ऐसा इसलिए क्योंकि कृष्ण मीरा का विचार हैं, वे उन्हें मानती हैं। अतः शारीरिक स्तर तक भी उनके इस मानने की प्रतिक्रिया होती है। क्योंकि कविता विचार बोध को इन्द्रिय बोध तक ले जाती है।

- किसी व्यक्ति को यदि नींद न आए या भोजन अच्छा न लगे तो वह उसकी पीड़ा का आत्यंतिक रूप है। कृष्ण मीरा का विचार हैं और यह विचार उनके इन्द्रिय बोध तक पहुँच रहा है।
- **"घायल सी घूमत फिरूँ, मेरा दरद न जाणे कोय"** – चोट लगने पर मध्यकालीन व्यक्ति का कोई इलाज नहीं हो पाता था। आज की तरह की चिकित्सीय सुविधाएँ तब मौजूद नहीं थीं। यह पीड़ा अन्तिम होती थी। यहाँ मीरा इसी पीड़ा को अतार्किक भाव से व्यक्त कर रही हैं। चूँकि कष्ट उनका है अतः कोई दूसरा उस कष्ट को समझ ही नहीं सकता, और मीरा उसे बताना या अनुभूत कराना भी नहीं चाहती।

- **'प्राण गमायो झूरतां रै, नैण गमाया रोय'** - प्राचीन समय में अधिक रोने से आँखें खराब हो जाती थीं, उनका आज की तरह कोई इलाज नहीं हो सकता था और व्यक्ति अंधा हो जाता था। मीरा भी रो-रोकर अपने नेत्र गँवा रही हैं।

- **"जो मैं ऐसा जानती रै, प्रीत कियो दुःख होय'** - कोई भी व्यक्ति प्रेम करने से पहले यही सोचता है कि प्रेम से तो सुख प्राप्त होता है, सामान्यतः ऐसा अब भी माना जाता है, परंतु मध्यकाल में मीरा ने ही सबसे पहले यह घोषणा की कि प्रेम करने से दुख होता है। प्रेम करने के बाद हमारे हाथ में कुछ नहीं होता, क्योंकि प्रेम हो गया तो हो गया अब क्या करें! दुःख होता है, यह बात बाद में पता चलता है। मीरा को भी यह पहले पता नहीं था, अगर पता होता तो वह सबको इस संदर्भ में सजग भी करती।

- **"पंथ निहारूँ"** का निहारना शब्द बहुत ही स्नेह और ममत्व के साथ देखने की छवि देता है। उसी अपनत्व के साथ मीरा निहारती हुई मार्ग भी साफ कर रही हैं, जिससे शायद कृष्ण आ सकते हैं।

- यदि **'घायल सी घूमत फिरूँ, मेरा दरद न जाणे कोय'** पंक्ति को दुबारा देखें तो एक बात साफ हो जाती है वह यह कि मीरा के लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन उसका विरोध कर रहा है, कौन चिढ़ा रहा है, कौन समझा रहा है बल्कि वह इस बात पर ज़ोर देती है कोई मेरे दर्द को नहीं समझ पा रहा है। मित्र है वह भी नहीं, शुभचिन्तक है वह भी नहीं। सबसे बड़ी बात कि जो उसका विरोध कर रहा है वह भी बिना जाने समझे ही विरोध कर रहा है। सम्यक संप्रेषण के अभाव का दर्द ही मीरा का मूल कष्ट है।

- इस पद में मीरा दूसरों को अपना अनुभव बता रही हैं। जिस रत्न धन की उन्हें प्राप्ति हो गई है उसकी विशिष्टता और उपयोग के बारे में बता रही है? यहाँ मीरा अपनी संतुष्टि को प्रकट कर रही हैं। पद की पहली पंक्ति से एक छवि उभरती है। अगर हम यहाँ "घड़ी एक नहीं आवडे" की मीरा की कल्पना करें और अचानक, उस उदास घायल सी घूमने वाली, नैण गँवाने वाली मीरा को राम रत्न रूपी धन प्राप्त हो जाए तो क्या हो। ऐसा यदि हो तो मीरा हृदय तक संतुष्ट हो जाए, उसे आंतरिक तुष्टि मिल जाए। इस पद में उसी प्राप्ति की संतुष्टि है। यह अमूल्य वस्तु जो उसे प्राप्त हो गई है उसका वर्णन वह आह्लाद से करती हुई कहती है - **पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।** यहाँ "पायो जी" पर विशेष बल है।

- मीरा के गुरु ने उसे अमूल्य वस्तु दी, अमूल्य का अर्थ है -मूल्य से परे, जिसकी कोई कीमत नहीं आँकी जा सकती। और मीरा ने असीम कृपा मानकर उसे अपना लिया।

राणाँजी म्हारो काँईं करसी, मैं तो सेया छै श्री भगवान। (टेक)
पगां बजावै मीरां घूघरा, हाथां बजावें झाँझ।
साँवरिया म्हांने दरसण देसी, परभाताँ और साँझ।।1
नाग-पिटारी राणाँजी भेजी, हो गयो सालगराम।
विष रो प्यालो राणाँजी भेज्यो, चरणामृत कियो पान।।2
साधाँ री संगत मीरांजी छोड़ो, साधां रो संत सुभाव।
साधाँ री संगत राणाँजी नै छोड़ाँ, गहरो लाग्यो छै घाव।।3

मीरा राणा को चुनौती देते हुए कह रही हैं कि राणा जी मेरा कर ही क्या सकते हैं! अर्थात् कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते क्योंकि मेरे तो प्रिय और साथ देने वाले ईश्वर हैं। मीरा अपने ईश्वर में तन्मय होकर पैरों में घुंघरू और हाथों में झाँझ बजा रही है। यानी पूर्ण रूप से

ईश्वर मय हो गई हैं। मीरा के साँवरिया कृष्ण उसे सुबह -शाम दर्शन देते हैं। राणा ने लोक लाज खोने वाली मीरा को मारने के लिए पिटारी में नाग रखकर भिजवाया। लेकिन वह नाग तो शालिग्राम बन गया जो मीरा का रक्षक है। राणा ने मीरा के लिए विष का प्याला भिजवाया। लेकिन मीरा ने उसे चरणामृत मानकर पी लिया। मीरा का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा। राणा का कहना है कि मीरा जी! साधुओं की संगत छोड़ दो क्योंकि आप तो राजकुल से संबंध रखती हैं जबकि साधु, संत स्वभाव के होते हैं उन्हें कोई बंधन नहीं होता। राणा की इस बात पर मीरा का साफ-साफ कहना है कि राणाजी! मैं साधुओं की संगत नहीं छोड़ सकती क्योंकि मेरा प्रेम और भक्ति का घाव बहुत गहरा है।

प्रस्तुत पद मीरा के विद्रोही स्वभाव को व्यक्त करता है। निश्चय ही मीरा के शुभचितंकों ने मीरा को समझाया होगा, डराया होगा। राणा के आततायी स्वरूप का लंबा चौड़ा बखान किया होगा। मीरा ने बहुत बार सुना होगा, बहुत बार उन बातों को अनदेखा कर दिया होगा लेकिन लोग बार-बार समझाने से बाज नहीं आते होंगे। तब कुम्हलाकर, थोड़ा नाराज होकर मीरा ने यह चुनौती दी होगी कि राणाजी मेरा क्या कर लेंगे। वैसे मीरा के शुभचिंतक या अन्य बताने वालों ने तो यह सब बताया ही होगा कि राणाजी उसका क्या कर सकते हैं। पर मीरा उससे भयभीत नहीं होती और वह उन सभी व्यक्तियों के मन से भी राणा जी का भय हटाना चाहती है। यही नहीं वह राणा को चुनौती भी देती है। तब मीरा ईश्वर के सर्वशक्तिशाली रूप को उसकी तुलना में खड़ा रखती है। मीरा की तो ईश्वर रक्षा करने वाले हैं इसलिए वह पैरों में घुंघरू बाँधकर हाथों में झाँझ बजाती हुई नृत्य कर रही है। इस विश्वास के साथ कि साँवरिया कृष्ण उन्हें सुबह शाम दर्शन अवश्य देंगे। राणा ने मारने की बहुत कोशिश की लेकिन क्या वह सफल हो पाया। एक बार राणा ने साँप पिटारी में रखकर भेजा लेकिन वह मीरा तक पहुँचते-पहुँचते सालिग्राम बन गया। उन्होंने जहर का प्याला भेजा मीरा ने चरणामृत मान कर पी लिया। क्या हुआ। मरी तो नहीं न। मीरा अपने विश्वास को व्यक्त करते हुए कहती हैं कि आगे भी मैं ऐसे ही रहूँगी और राणा मेरा कुछ नहीं कर पाएगा। राणा मीरा से संतों का साथ छोड़ने के लिए भी कहता है लेकिन मीरा नहीं मानती और कहती है कि संतों का साथ अब नहीं छूटता क्योंकि जो ज्ञान संतों से मिला है उसने मेरे मन को गहरा घाव दिया है। वह घाव अभी भरा नहीं। वह घाव भक्ति का है, प्रेम का है।

- सामंतवाद में पुरुष स्त्री को दबा कर रखता है। अपनी मानसिकता और इच्छाओं को उस पर थोपता है और पुरुष के अनुसार व्यवहार करने के लिए स्त्री विवश होती है। यहाँ मीरा सामंतवाद की सत्ता और राजदरबार को दी गई चुनौती है। वह सामंतवादी व्यवस्था को नहीं मानती और अपने मन का करती है। यही चेतना मीरा को आधुनिका बनाती है।

- मीरा ने साफ कहा कि वह पर्दा नहीं करेगी, साधुओं और ज्ञानी पुरुषों की संगति करेगी, राणा क्रोधित हो रहा है, सब सुन रहा है। फिर भी मीरा जीवित बची रही। सब जानते है कि मीरा "बावरी" है, वह स्वयं यह बात कहती है कि वह दीवानी है। लोक व्यवहार से नादान पगली को मारना पाप है। यह कारण भी मीरा के जीवित बचे होने का हो सकता है।

- इस पद में मीरा राणा की भव्यता और बड़प्पन को चुनौती देती है। सामंतवाद में राजा सबसे बड़ा होता है। यहाँ मीरा के बावलेपन और राणा की भव्यता की टकराहट है। व्यक्तित्व की टकराहट है। राजा सर्वशक्तिशाली है। यहाँ सर्वशक्तिशाली को दी गई चुनौती है।

- मीरा मानती है कि कर्ता केवल ईश्वर है। राणा कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए वह डरती नहीं है। उस समय सामंतवाद के तहत पलने वाले सामान्य लोगों को मीरा की इस भययुक्त छवि ने आकर्षित किया। राजा और सामंतशाही का जो डर सामान्य लोगों में व्याप्त था उन्हें मीरा के इस भयमुक्तता से ताकत मिली।

- मध्यकाल में भय से मुक्ति की बात कही जाती थी। यहाँ इसी बात की पुष्टि की जा रही है। भय से मुक्ति और निडर व्यक्तित्व मीरा की लोकप्रियता के बिन्दु हैं।

हरि से गरब किया सोई हारा ।। (टेक)
गरब किया रतनागर सागर, जल खारा कर डारा।
गरब किया लंकापति रावण, टूक टूक कर डारा ।।1
गरब किया चकवे चकवी ने, रैन बिछोहा डारा ।
गरब किया बन की चिरमी ने, मुख कारा कर डारा ।।2
इन्दर कोप किया वृज ऊपर, नख नर गिरवर धारा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, जीवन-प्राण हमारा ।।3

- मीरा ने इस पद में लोक श्रुतियों का प्रयोग किया है। और अच्छे मनुष्य की परिकल्पना रखी है।

- "हरि से गरब किया सोई हारा" - गर्व बड़े से बड़े व्यक्ति को नष्ट कर देता है अतः मनुष्य को सहज-साधारण मानव बन कर रहना चाहिए।

- मीरा यहाँ कोई उपदेश नहीं दे रही बल्कि यह उसकी आत्माभिव्यक्ति है। मीरा की कविता और जीवन में भेद नहीं है। वह जो है वही उसकी कविता है। मीरा की कविताओं का विश्लेषण करके उसके व्यक्तित्व की छवियों का निर्माण किया जाता रहा है। जबकि मीरा की कविता और उसका व्यक्तिगत जीवन एक दूसरे के पूरक हैं।

15.5 सारांश

मध्यकाल में मीरा ऐसी कवयित्री है जिसने आत्माभिव्यक्ति की। हम यह जानते हैं कि यह विशेषता छायावादी देन है। मध्यकाल में तो भक्ति की कविता होती थी। कबीर ने उपदेश दिए। सूरदास ने कृष्णलीला के पद रचे। लेकिन मीरा ऐसी कवयित्री हैं जिन्होंने केवल आत्माभिव्यक्ति ही की। उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं कही जिसे वे नहीं मानती थीं। मीरा ने कहीं यह भी नहीं कहा कि वह राणा से घृणा करती है या उसे दयनीय मानती है। लेकिन उनके पदों में यह तो स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि वह राणा की सत्ता का न तो सम्मान करती है और न ही उससे भयभीत है। राणा के प्रति गुस्सा और दुख, ईश्वर प्रेम, कृष्ण से विनती आदि उनकी अपनी भावनाएँ थीं। उनका भोगा हुआ था। यही बात आज मीरा को बड़ा बनाती है, विशिष्ट बनाती है। मीरा मध्ययुगीन स्त्री की अकेली आवाज है। उसकी कविता उसकी आत्मभिव्यक्ति है।

15.6 अभ्यास प्रश्न

1. मीरा के काव्य की विशेषताएँ बताइए।
2. मीरा की कविताओं के विश्लेषण संबंधी विशिष्ट बिन्दुओं को स्पष्ट कीजिए।
3. मीरा किन्हीं तीन पदों का विश्लेषण कीजिए।

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. मीरा बाई का जीवन चरित – मुंशी देवी प्रसाद (बंगीय हिन्दी परिषद, कलकत्ता)
2. मीरा मन्दाकिनी–नरोत्तम स्वामी – युनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा
3. मीरा बाई की पदावली– आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
4. मीरा बाई – डॉ. सी. एल. प्रभात – हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई
5. मीरा का लोक तात्त्विक अध्ययन – डॉ. आलमशाह खान
6. मीरा का काव्य – डॉ. भगवानदास तिवारी

Note :

SOH-IGNOU/P.O. 1T/November, 2014

ISBN : 978-81-266-6820-5